योग सिद्धान्तों और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

वर्ष 32 अगस्त, 1999 अंक 5

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन
संवाई (आगरा)-283 202

SIDDHYOG
AUGUST, 1999

संस्थापक :
योग-योगेश्वर अनन्त श्री
चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :
आचार्य ब्र० दासलाल शर्मा

संयुक्त सम्पादक :
श्री भुवनेन्द्र झा

प्रबन्ध सम्पादक :
ब्र० राजेशचन्द्र शर्मा
चन्द्रशेखर 'दिव्य'
आचार्य चन्द्रहास शर्मा
राजेश कुमार श्रीवास्तव

एक प्रति रु० 8-00
वार्षिक शुल्क रु० 75-00
द्विवार्षिक रु० 140-00
आजीवन रु० 750-00

इस अंक में

- स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु...... 1
- अमृतकण.............................. 2
- विशेष लेख
  अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज.... 3
- सम्पादकीय.............................. 10
- शक्ति जागरण का मूलमंत्र सद्गुरुकृपा
  चन्द्रहास शर्मा.......................... 12
- अमोघ स्मृति
  डा. विजय सिंह.......................... 17
- अद्‌भुत कृपालीला
  राजेश कुमार श्रीवास्तव.............. 20
- पुराणों में भक्तियोग
  डा० स्वामी केशवाचार्य................ 26
- यही हैं, यही हैं
  केशवदेव उपाध्याय.................... 31
- सद्‌गुरुदेव की दृष्टि में योग की महत्ता क्यों ?
  जय नारायण.............................. 35
- अबोध बालिका की रक्षा
  अंशुमान देव मालवीय................ 37
- कर्म का मर्म
  आर.सी.ठाकुर.......................... 38

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, संवाई (एत्मादपुर) आगरा

वर्ष 32
अंक 5

अगस्त
1999

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्य:।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विषदान योगशास्त्रोपदेशान्,
कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये सिद्धयोग:।।

स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि:।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद ।३ ।४)

अर्थात्

जो रुद्र—इन्द्रादि देवताओं की उत्पत्ति का हेतु और वृद्धि का हेतु है; तथा जो सबका अधिपति और महान ज्ञानी—सर्वज्ञ है; जिसने पहले हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था, वह परमदेव परमेश्वर हम लोगों को शुभ बुद्धि से संयुक्त करें।

अमृत कण

गुरुर्यत्र प्रणम्यते !

गुरुं संतोषयेद् भक्त्या विद्याविनयतत्परम्।
प्रस्तोकाय ददौ पायु: स्तुत्या तुष्टोऽस्त्रमंडलम्॥

मानव का कर्तव्य है कि विद्या एवं विनय से सम्पन्न अपने गुरु को भक्ति श्रद्धापूर्वक पूर्ण संतुष्ट करें। राजा प्रस्तोक ने अपने गुरु पायु ऋषि को भक्तिपूर्वक धनादि देकर परितुष्ट किया तो ऋषि ने उसे दिव्य अस्त्रमण्डल प्रदान किया।

* * *

देवा: कुर्वन्ति साहाय्यं गुरुर्यत्र प्रणम्यते।
जघानेन्द्रसहायोऽरीनभ्यावर्ती गुरोर्नतेः॥

जिस घर में गुरु का आदर सम्मान किया जाता है, दक्षिणा–भोजन–वस्त्र आदि से उन्हें परितुष्ट किया जाता है, वहाँ इन्द्रादि देव भी सदैव सहायतार्थ प्रस्तुत रहा करते हैं।

* * *

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था: प्रकाशन्ते महात्मन:॥

जिस साधक की परमदेव परमेश्वर में परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वर में होती है, उसी प्रकार अपने गुरु में भी होती है, उस महात्मा–मनस्वी पुरुष के हृदय में ही ये बताऐ हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं। अत: जिज्ञासु को पूर्ण श्रद्धालु और गुरुभक्त बनना चाहिये। जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्मा के हृदय में ये गूढ़ अर्थ प्रकाशित होते हैं।

* * *

विशेष लेख

सद्गुरु तत्व

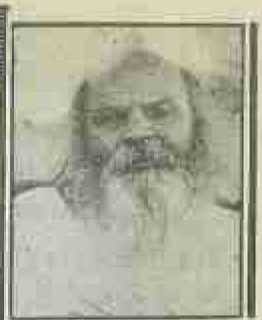

योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सद्गुरु तत्व प्रणव तत्व है, ओंकार तत्व है। सद्गुरु का अर्थ यह शरीर मात्र नहीं है। इस शरीर को नित्य शुद्ध ब्रह्म अपना अधिष्ठान बना लेता है। सद्गुरु वह पराशक्ति है। जो सद्गुरु तत्व जहाँ—जहाँ प्रकाशित होता है वहीं—वहीं पूज्य बन जाता है। वह जब भगवान राम में प्रकाशित होते हैं तो वे जगत पूज्य हो जाते हैं। जब श्री कृष्ण में प्रकाशित होते हैं तो वे जगतवंद्य हो जाते हैं और जब वह भगवान शिव में प्रकाशित होते हैं तो वे सबके पूज्य बन जाते हैं। यही पुराणों में सबसे बड़ी बात लिखी है। शक्ल यह दीखती है किन्तु शक्ल के अन्दर वह परात्पर शक्ति काम करती है। किसी आकृति को अपना अधिष्ठान बनाकर काम करती है। सद्गुरु शक्ति वहाँ प्रकाशित होती है जहाँ योगी सब प्रकार से ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा हो गया हो, सद्गुरु तत्व में लीन हो गया हो वह सद्गुरु होता है। योगी होना और बात है सद्गुरु होना और बात है। योगी तो अभ्यास करते—करते कोई भी हो सकता है वह ऋद्धि सिद्धियों का स्वामी हो सकता है, हजारों वर्ष की आयु वाला अजर—अमर भी हो सकता है किन्तु सभी के अन्दर सद्गुरु तत्व प्रकाशित हो यह आवश्यक नहीं। हर व्यक्ति सद्गुरु तत्व को नहीं समझ सकता इसलिये कुछ व्यक्ति तो यह समझेंगे कि अपने गुरुदेव की बड़ाई करने के लिये यह सब कुछ कह रहे है। थोडी सी बाते मैं इस विषय में समझा देना चाहता हूँ ताकि तुम सबको इस बात का ज्ञान हो जाये कि सद्गुरु तत्व होता क्या है ? तुम ने संत ज्ञानेश्वर के बारे में सुना होगा उन्हें जन्म से ही योग की प्रतीति थी। थोड़ी ही आयु में बड़े—बड़े चमत्कारिक कार्य उनसे हुये। एक बार का प्रसंग है खूब जोरों की वर्षा हो रही थी कहीं पर भी भोजन बनाने के लिये सूखी लकड़ी उपलब्ध न हो सकी। उनकी बहिन मुक्ताबाई कहने लगी—भाई ! लकड़ी सूखी नहीं है कैसे रोटी बनाऊँ ? संत ज्ञानेश्वर कहने लगे—बहन ! लो मेरे पेट के ऊपर बना लो ! बहिन ने पेट पर हाथ लगाया तो वह अत्यधिक गर्म था हाथ रखना मुश्किल हो गया। योग दर्शन में सूत्र आता है **'समान जयात् ज्वलनम्'** 'अर्थात् समान वायु पर जय कर लेने पर संयम कर लेने पर, अग्नि प्रकट की जा सकती है। यह समान वायु नाभि मण्डल में रहता है मुक्ताबाई ने ज्ञानेश्वर के पेट के ऊपर रोटियाँ सेक कर सभी को खिलाई। एक बार वह अपने घर पैतृक श्राद्ध करने लगे तो वहाँ पर उनके पितरों ने अपने हाथ निकाल कर श्राद्ध को ग्रहण किया। ऐसे अनेक—अनेक उनके चमत्कार बचपन में ही देखने को मिले। भैंस के कटहे के मुख से वेद की ऋचायें कहलवाई। उन्हीं दिनों में महाराष्ट्र में एक बड़ी लम्बी आयु के योगी रहते थे वह शेर पर चढ़ कर चलते थे, नाम उनका योगी चाङग देव था। उस समय उनकी आयु १४०० वर्ष थी और संत ज्ञानेश्वर की चौदह वर्ष। योगी चाङ्गदेव को किसी महापुरुष ने कहा था जब तुम

१४०० वर्ष के होंगे तब तुम्हें पूर्ण सद्गुरु मिलेंगे, तब तुम्हारा कल्याण होगा। योगी चाङ्गदेव ने जब संत ज्ञानेश्वर के चमत्कारों को सुना तो उन्हें उस महापुरुष का वरदान याद आने लगा। मन में आया, हो न हो यही मेरे गुरु हो सकते हैं। उसने संत ज्ञानेश्वर को पत्र लिखना चाहा किन्तु सम्बोधन में क्या लिखें यह उनकी समझ में नहीं आया। वह सोचने लगा यदि मैं लिखता हूँ ज्ञानेश्वर जी महाराज साष्टांग प्रणाम इसमें मुझे संकोच हो रहा है। और यदि मैं लिखता हूँ चि. ज्ञानेश्वर आशीर्वाद ! तो यह भी उचित नहीं लगता। अन्त में उन्होंने एक कोरा कागज भेज दिया, वह चिट्ठी बहिन मुक्ता बाई के हाथ में आई। उस पर संत ज्ञानेश्वर ने ६४ पद लिख कर भेजे किन्तु ये चौसट पद चाङ्गदेव की समझ में नहीं आये। यह ज्ञानेश्वर चौसठ पदी प्रसिद्ध हैं। चाङ्देव जी संत ज्ञानेश्वर से मिलने के लिये शेर की सवारी करके आने लगे। उस समय संत ज्ञानेश्वर एक दीवार के ऊपर बैठे दातून कर रहे थे। किसी ने आकर कहा चाङ्गदेव जी शेर पर चल कर एक भयानक सर्प का चाबुक बनाकर आ रहे हैं। संत ज्ञानेश्वर कहने लगे हमारे पास तो कोई शेर वेर नहीं है। अतः उस दीवार से कहने लगे— चल आगे चाङ्गदेव से मुझे मिलना है। उनकी संकल्प शक्ति से दीवार चल पड़ी। चाङ्गदेव ने देखा कि मैं तो शेर पर सवार होकर आ रहा हूँ किन्तु संत ज्ञानेश्वर जी तो जड़ दीवार को चेतन की तरह बनाकर उसमें सवार होकर आ रहे हैं। उन्होंने सोच लिया यही मेरे गुरुदेव हैं उन्होंने साष्टांग दण्डवत् किया। संत ज्ञानेश्वर ने उन पर शक्तिपात किया और चाङ्गदेव यथार्थ में योगी बन गये। कहने का मेरा अभिप्राय केवल मात्र इतना ही है कि सिद्धिशक्ति वान होना दूसरी बात है—सिद्धि शक्तिवान तो भगवती की उपासना करने वाला भी हो जाता है। कालिका भैरव आदि का उपासक भी सिद्धियों वाला होता है। किन्तु सद्गुरु शक्ति दूसरी बात है। वह तो किसी पूर्ण योगी में प्रकाशित होती है या कोई बहुत ही पुण्यात्मा हो उसके अन्दर शक्ति का प्रकाश होता है। गुरुदेव ही अपनी शक्ति का प्रकाश किया करते हैं और वह प्रकाश इस प्रकार का होता है जिसके द्वारा वह औरों को भी प्रकाशित करने वाला बन जाता है।

सद्गुरु के विषय में लोगों की भिन्न–भिन्न धारणायें रहा करती हैं। अपनी मति के अनुसार हर व्यक्ति कल्पना किया करता है। गुरु शब्द पर भी लोगों की अपनी–अपनी कल्पना है। यदि कहीं गुरुदेव की महिमा की बात चलती है तो लोग कहा करते हैं कि गुरु क्या ईश्वर से बड़ा हो गया। ये सब गुरुडम्म है। इत्यादि–इत्यादि बातें लोग कहा करते हैं। उसका कारण केवल मात्र एक होता है कि वे सद्गुरु तत्व के विषय में जानते नहीं हैं। पुराणों और इतिहास के अन्दर बड़ी–बड़ी कथायें मिलती हैं। बड़े–बड़े ऊँचे चरित्र मिलते हैं। वे चरित्र एक दूसरे से विपरीत दिखाई देते हैं। हर व्यक्ति इस रहस्य की बात को नहीं समझ सकता। यह भी देखने में आता है, जिन देवताओं की हम वन्दना करते हैं वे भी एक दूसरे के पुजारी हैं। देखो ! रामचरित मानस में एक प्रसंग आता है कि जिस समय भगवान शंकर कैलाश पर बैठ कर राम नाम का जाप कर रहे थे और काफी विभोर हो रहे थे उस समय जगदम्बा सती ने पूछा—आप किस का जाप करते हैं ? आप तो सर्ववंद्य है ! तब भगवान शिव ने उत्तर दिया— मैं राम का जाप करता हूं वे मेरे इष्ट हैं। उन्होंने कहा— वह कौन राम है ? मैं तो समझती थी कि सारा संसार आप की उपासना करता है। भगवान शिव ने कहा दशरथ पुत्र राम ही मेरे इष्ट हैं, वे परात्पर हैं मैं उनकी आराधना करता हूँ। चलो, मैं तुम्हें उनके दर्शन कराऊँगा। उस समय भगवान राम दण्डकारण्य में थे।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः
गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः

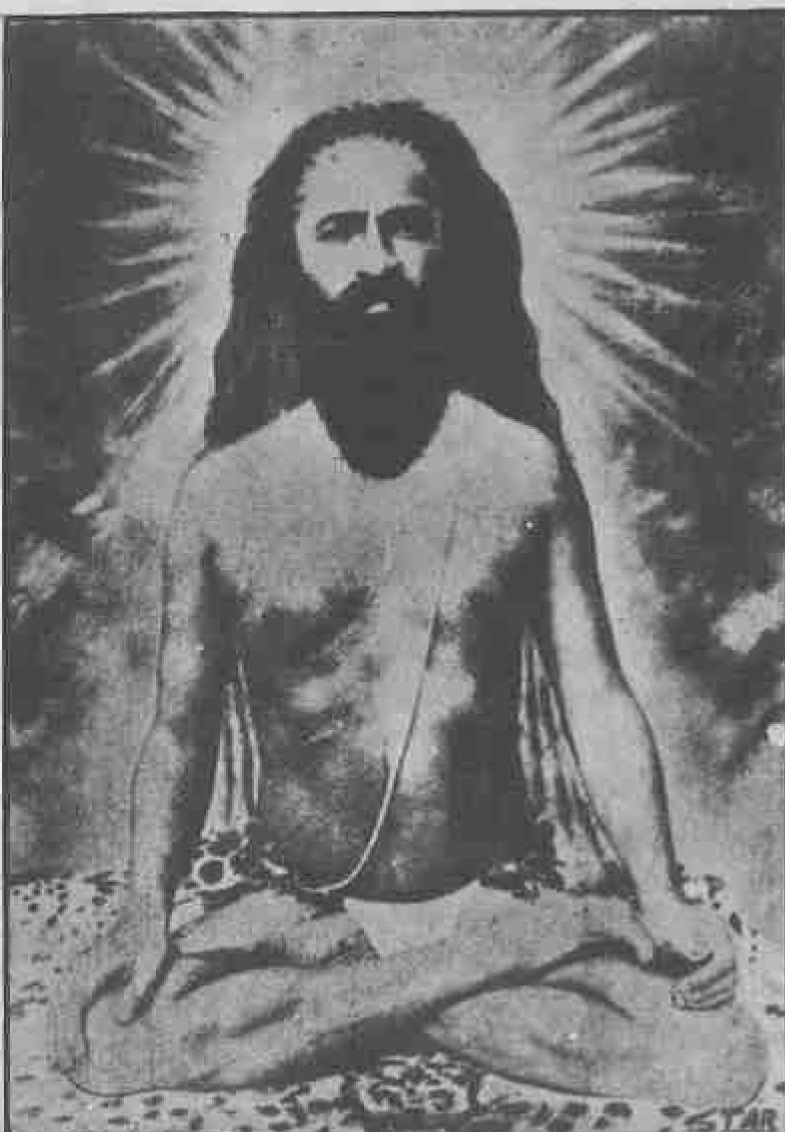

दादा गुरुदेव योगेश्वर प्रभुश्री रामलाल जी महाराज

भगवान शिव ने उन्हें प्रणाम किया और लौटने लगे। जगदम्बा के मन में संशय बना ही रहा कि यह राज कुमार किस प्रकार से मेरे पतिदेव के इष्ट हो सकते हैं अन्त में उन्होंने साहसपूर्वक भगवान शिव से पूछ लिया—यह तो राजकुमार हैं आप इनकी उपासना क्यों करते हैं ? भगवान शिव ने कहा वे पूर्ण ब्रह्म हैं मैं उनकी ठीक उपासना करता हूँ। यदि तुम्हें कोई संशय है तो जाकर परीक्षा ले लो। सती परीक्षा लेने के लिये चली गईं। उस समय भगवान राम सीता के वियोग में व्याकुल होकर विलाप करते हुये वन—वन घूम रहे थे। सती ने उनकी परीक्षा लेने का उपाय केवल मात्र एक समझा वह यह कि वह सीता का रूप धारण कर ले और रास्ते में बैठ जाये ताकि उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाये की राम यथार्थता को जानेंगे या नहीं। ऐसा सोच कर वह रास्ते में एक स्थान पर बैठ गईं। भगवान राम ने उनके रूप को पहचान लिया और प्रणाम करके कहने लगे— माता ! आप यहाँ अकेली कैसे बैठी हैं ? भगवान शिव को कहाँ छोड़ कर आई हैं ! सती बहुत लज्जित हुईं और बिना कुछ कहे वापिस लौट आईं। भगवान शिव ने पूछा—परीक्षा ले आईं। वे कहने लगी परीक्षा दे आई ! इस घटना के बाद पर स्त्री का रूप धारण करने के कारण भगवान शिव ने उन्हें अपने वामाङ्ग में नहीं बिठाया। सामने आसन दे दिया। इसी दुःख से दुःखी होकर सती ने अपने पिता के यज्ञ में योगाग्नि से अपना शरीर भस्म कर दिया और दूसरे जन्म में पार्वती के रूप में जन्म लेकर भगवान शिव को प्राप्त करने के लिये घोर तप किया। भगवान शिव ने उन्हें अर्धाङ्गिनी के रूप में स्वीकार कर लिया और वह आज भी गिरिजा के रूप में हैं। यह इस प्रकार का एक प्रसंग है। दूसरा प्रसंग देखो—जिस समय सीता का अपहरण हो गया तो श्री राम बहुत व्याकुल हो गये तो उन्होंने महर्षि अगस्त्य के पास जाकर प्रश्न किया महाराज ! मेरा यह दुःख कैसे दूर हो ? सीता मुझे किस प्रकार से मिल सकती है। महर्षि अगस्त्य ने कहा—तुम यहाँ इस वन में रहकर भगवान शिव की आराधना करो। शिव स्रोत का पाठ करो इससे भगवान शिव प्रसन्न हो जायेंगे और तुम पर कृपा करेंगे। महर्षि की आज्ञा को मानकर भगवान राम ने घोर तप करना शुरू कर दिया। कई—कई महीने वायु पर ही आश्रित रहे। इस प्रकार रह कर भगवान शिव के पंचाक्षरी मंत्र "ॐ नमः शिवाय" का जाप करते रहे। छः माह इस प्रकार से शिव आराधना के बाद भगवान शिव प्रसन्न होकर प्रकट हुये और कहने लगे—

एतद् पाशुपतं दिव्यं प्रगृहाण रघूद्भव।
एतदासाद्य पौलस्त्यं जहिमा शोचितुमर्हसि।

अर्थात् हे राम ! तुम इस पाशुपत अस्त्र को ग्रहण करो। इस को पाकर तुम रावण का वध कर सकोगे। इसलिये तुम चिंता मत करो। इस प्रकार भगवान शिव ने भगवान राम को पाशुपत अस्त्र दिया जिससे उन्होंने रावण का वध किया। इससे पूर्व जब भगवान राम समुद्र पर सेतुबन्धन करने जा रहे थे उस समय उन्होंने भगवान शिव की अर्चना करते हुये उन्हें शिवलिङ्ग के रूप में स्थापित किया जो आज भी रामेश्वर के नाम से विख्यात है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक तरफ तो कैलाश में बैठे—बैठे भगवान शिव राम की उपासना करते हैं और दूसरी तरफ भगवान राम युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिये भगवान शिव की आराधना करते हैं ये दोनों प्रसंग एक दूसरे से विपरीत लगते हैं। इन प्रसंगों को सुनकर तुम अपने मनों में क्या निर्णय लोगे, कौन किसका इष्ट है ? अच्छा ! भगवान कृष्ण के चरित्र प्रसंग को देखें। भगवान् कृष्ण का व्रज में अवतार हुआ। कैलाश से भगवान शिव उनके दर्शन को आये। बड़ी मुश्किल

से उनका दर्शन मिला। यहाँ यह लगता है कि भगवान शिव कृष्ण के उपासक हैं। आज भी वृन्दावन में गोपेश्वर महादेव का मन्दिर बना हुआ है। रास लीला के समय भी भगवान शिव गोपी का रूप धारण कर रास लीला में गये। अब द्वारिकापुरी का एक प्रकरण देखें। एक बार मार्कण्डेय आदि ऋषि भगवान कृष्ण के पास पहुँचे तो देखा कि भगवान कृष्ण शिवाराधना में लगे हुये हैं। मार्कण्डेय आदि ऋषियों ने भगवान कृष्ण से प्रश्न किया:—

त्वं विष्णु: कमलाकान्त: परमात्मा जगद्गुरु:
तव पूज्य: कथम् शम्भू एतद् सर्वम् वदस्व मे।

अर्थात हे कृष्ण ! आप तो जगद्गुरु ईश्वर और लक्ष्मीपति विष्णु हैं। कृपया हमें बतावें कि भगवान शिव आप के पूज्य कैसे हैं ? इस रहस्य को आप हमें बतावें ? उसका उत्तर देते हुये भगवान् कृष्ण ने कहा—

जनयामास धातारं दक्षिणाङ्गात् सदाशिव:
मध्यतो रुद्रमीशानं कालात्मा परमेश्वर:
वामाङ्गात् अभवत्तस्य सोऽहं विष्णु इति स्मृत:
तपस्तपन्तु भो वत्सा अब्रवीत् सदाशिव:

अर्थात्—भगवान सदाशिव ने अपने दाहिने अंग से ब्रह्मा जी को उत्पन्न किया। कालात्मा परमेश्वर ने अपने मध्य भाग से रुद्र को उत्पन्न किया। उनके वामाङ्ग से उत्पन्न मैं विष्णु हूँ। इसके पश्चात सदाशिव ने कहा—हे पुत्रो ! तुम सब तपस्या करो। यह प्रकरण मिलता है। इधर तो भगवान शंकर इस प्रकार बाल कृष्ण के दर्शन को आते हैं और दूसरे प्रकरण में भगवान कृष्ण उपमन्यु ऋषि से दीक्षित होकर पुत्र के लिये बारह वर्ष तक शिव की आराधना करते हैं। तब शिव की कृपा से उन्हें पुत्र के रूप में प्रद्युम्न की प्राप्ति हुई। ये दोनों प्रकरण भी विपरीत ही दिखाई देते हैं। इनमें परस्पर अन्तर दिखाई देता है। यह समझने की बात है भगवान कृष्ण ने युद्ध क्षेत्र में अर्जुन को गीता सुनाई। अर्जुन ने गीता सुन ली किन्तु वे भूल से गये। युद्ध के पश्चात् एक दिन वह कहने लगे—महाराज ! मैं उस गीता ज्ञान को फिर सुनना चाहता हूँ। आप मुझे वह गीता फिर से सुना दें।

इस पर भगवान् ने कहा—

न शक्यस्तन्मया भूय: तथा वक्तुं ह्यशेषत:।
परं हि ब्रह्म कथितम् योगयुक्तेन तन्मया।

भगवान् कहने लगे— अर्जुन मैं उसको उसी प्रकार से पुन: नहीं सुना सकता हूँ। वह तो परब्रह्म की वाणी थी। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि सद्गुरु तत्व कहाँ कब प्रकाशित होता है, इस बात को हर व्यक्ति नहीं समझ सकता। देखो ! बाल रूप में जब भगवान कृष्ण का अवतार हुआ या राम का अवतार हुआ उस समय वे उस परम तत्व से विभूषित थे जब तक इन्द्रिय धर्म प्रकट नहीं हुए तब तक उस तत्व का दर्शन करने के लिये भगवान शिव जाते रहे हैं और बाद में जब राम आराधना करने बैठे तब सद्गुरु रूप में भगवान शिव गये और राम पर कृपा की।

तभी तो कहा—

एतदासाद्य पौलस्त्यं नहि मा शोचितु मर्हसि।

इसी प्रकार से भगवान कृष्ण की बात है। वैसे भगवान कृष्ण को सर्वत्र योगाधीश योगेश्वर आदि शब्दों से सम्बोधित किया गया है। उनके बारे में तो कहा जाता है **'एते चांशकला पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'** मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सद्गुरु तत्व जिस समय जिस रूप में प्रतिष्ठित होता है उस समय सारे देवी देवता उनकी पूजा अर्चना किया करते हैं। आनन्द कंद श्री प्रभु जी ऋषिकेश आश्रम में विराज रहे थे तो उस समय एक दिन कई ध्यानियों ने ध्यान में देखा कि ब्रह्मा विष्णु आदि सब देवता श्री प्रभु जी के रूप की वन्दना पूजा कर रहे हैं। हमारे गुरु भाई बहिनों ने इस रहस्य का समाधान ढूँढने के लिये श्री

प्रभु जी के सामने इस बात को रखा। श्री प्रभु जी ने उसका उत्तर देते हुये कहा कि वे इस शरीर की पूजा नहीं कर रहे थे वे उस की, परब्रह्म की पूजा कर रहे थे। कहने का अभिप्राय यह था कि इस शरीर में प्रतिष्ठित सद्गुरु सत्ता को सब नमन कर रहे थे।

पुराणों में एक स्थान पर एक और प्रकरण है कि भगवान विष्णु ने शिव की पूजा की। भगवान शिव ने पूजा के एक कमल को चुरा लिया। विष्णु जी ने अपने एक नेत्र को ही कमल के स्थान पर रख दिया। इस से प्रसन्न होकर भगवान शिव ने विष्णु को सुदर्शन चक्र प्रदान कर दिया। किन्तु भस्मासुर प्रकरण में भगवान विष्णु ने शिव की रक्षा की। यहाँ पर भी कौन किसका पूज्य या कौन किससे बड़ा यह समझ में नहीं आता। देवी भागवत के अनुसार एक बार ब्रह्मा विष्णु और शिव भगवती लोक में पहुँच गये। उन्होंने वहाँ जाकर देखा कि वहाँ ब्रह्मा विष्णु और शिव अलग ही हैं। तब भगवती को नमन कर विष्णु ने इस प्रकार कहा—

ज्ञातं मया अखिलमिदं त्वयि सन्निविष्टो
त्वत्तो अस्य संभव लयापि मातरद्य
अस्मामित्र भुवने हरिरन्य एव दृष्टः
अन्येषु भुवनेषु न सन्ति किम् ते
न विद्य देवि तव सुप्रभावम्।

हे देवि! यहाँ पर हम अलग ही ब्रह्मा अलग विष्णु और अलग शिव को देख रहे हैं। हम आप की महिमा को नहीं जान सकते। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ पर दुर्गा ही परात्पर है। इस प्रकार से पुराणों में कहीं पर कोई किसी की स्तुति करता है तो कहीं पर कोई किसी की। परन्तु इन सबमें बात एक है वह है परात्पर तत्व की। इसके लिये योग दर्शन कहता है—**'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** वह तत्व काल की गति से परे है। ब्रह्मा विष्णु शिव का भी जो गुरु है वह परात्पर शक्ति है। इसी तत्व के लिये उपनिषदों में आता है।

भयादस्या ग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पचंमः
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम्
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः
तमेव भान्तमनु भाति सर्वम्
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

अर्थात् जिस के भय से अग्नि जलती है जिसके भय से सूर्य तपता है जिसके भय से इन्द्र, वायु व यमराज दौड़े–दौड़े फिरते हैं। वहाँ पर न सूर्य प्रकाशित होता है न चन्द्रमा और न तारे प्रकाशित होते हैं। उनके प्रकाश से ही जगत में सब कुछ प्रकाशित होता है। सब वस्तुओं में उनकी ही ज्योति है। **यही परम तत्व सद्गुरु तत्व है।** यह तत्व जिस समय जहाँ चाहे प्रकट हो जाता है उस समय उस रूप की सभी वन्दना करते है वह तत्व जिस शरीर में प्रकाशित होता है वह शरीर सभी से पूजा जाता है। यही परम तत्व सद्गुरु तत्व है। **''नास्ति तत्वं गुरोः परम्''**। गुरुतत्व से आगे कोई तत्व नहीं है।

इसलिये आज मैंने सद्गुरु तत्व की बात समझाई है। चाहे किसी ने दीक्षा ली हो या न ली हो श्री प्रभु जी के स्वरूप के सामने ध्यान में बैठ जाओ उनके विषय में पता चल जायेगा।

श्री प्रभु जी के स्वरूप को देखकर काम कोटी के शंकराचार्य श्री चन्द्रशेखर सरस्वती ने कहा था—ये स्वयं नारायण है ! इस चित्र में ही हजारों को मुक्ति देने की शक्ति है। श्री प्रभु जी परात्पर—नित्य तत्व हैं। इसलिये तुम सब उस परम तत्व के उपासक हो उस तत्व की प्राप्ति ध्यान योग से ही संभव है। तुम सब उस मार्ग की ओर बढ़ो। प्रयत्न करोगे तो सर्वशक्तिमान की सहायता अवश्य होगी।

***

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितम् येन तस्मै श्री गुरुवे नमः।।

सद्गुरुदेव योगिराज श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादकीय

योग एवं अद्वैतसिद्धि

उपनिषद् भारतीय योगियों और ऋषियों की वह भाषा है जो उन्होंने अन्तःकरण में प्रकट ऋतम्भरा प्रज्ञा की पराकाष्ठा में प्राप्त दिव्य ज्ञान को प्रकट करने के लिए प्रयुक्त किया है। इसलिये उपनिषद् **'समाधि की भाषा'** कहे जाते है। इसी कारण से उपनिषदों का अर्थ सामान्य मानव बुद्धि में प्रकट नहीं हुआ करता। उपनिषदों में मुख्य रूप से जिन विषय की चर्चा की गई है वह है जीव की **अज्ञानयुक्तावस्था** तथा **अज्ञानमुक्तावस्था** का वर्णन ! इन्हीं उपनिषदों से हिमालय से निकलने वाली नदियों के समान ज्ञान की अनेक धारायें बहती आई है जिनका पान करके मानव अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। जब–जब मानव सत्य के मार्ग से हटकर भ्रममूलक पथ पर चलता है ईश्वर कृपा करके अपनी किसी विभूति द्वारा मानव को पुनः परम सत्य के मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया करते हैं। मध्य युग में इसी तरह से हिन्दू समाज वैदिक मूल साधना से हटकर अन्यान्य मतों में फँसता जा रहा था उसी समय आदि गुरु शंकराचार्य जी का इस मृर्त्यलोक पर आविर्भाव हुआ। उन्होंने अमरतत्व के एकमात्र प्रतिपादक उपनिषदों की ओर मानव का ध्यान आकृष्ट किया और पुनः ऋषियों के अमर सन्देश का उद्घोष किया। उन्होंने **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** के सिद्धान्त का उद्घोष किया। आदि गुरु शंकर के इन विचारों का अनुशीलन करने वाले अनुयायिओं को 'अद्वैतमत' के पोषक के रूप में माना जाने लगा। अद्वैत का सीधा सा अर्थ है जहाँ द्वैत न हो, जहाँ पर दो तत्व न हों। इस अद्वैत मत को 'वेदान्त मत' भी कहा जाने लगा।

उपनिषदों में प्राचीन काल से ही योग की महिमा एवं आत्म–पद की प्राप्ति में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका को माना है। 'अद्वैत' सिद्धि की प्राप्ति का एकमात्र मुख्य उपाय उपनिषदों ने योग को माना है। योग का लक्ष्य है **कैवल्य** की प्राप्ति। कैवल्य का शाब्दिक अर्थ है अकेलापन। जहाँ दूसरा न हो। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द का तथा कैवल्य शब्द का अर्थ हुआ **एकाकी भाव**।

कैवल्य की प्राप्ति के लिये योग में बुद्धि एवं आत्मा के संयोग को हटाना ही पुरुषार्थ माना जाता है। निर्बीज समाधि में पहुँच जाने पर प्रकृति अपने मूल कारण में लय हो जाती है और उसके संयोग के हटते ही आत्मा अपने विशुद्ध रूप को पाकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। **'सत्व पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'** बुद्धि एवं आत्मा दोनों को अपना मूल–स्वरूप प्राप्त कर शुद्धि साम्य हो जाने पर कैवल्य सिद्ध होता है। इस स्थिति में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है यहां पर आत्मा का अद्वैत सिद्ध है। यह स्थिति योग से आती है। अद्वैतावस्था भी योग की अवस्था है। गीता में भगवान ने **'समाधावचला बुद्धिः तदा योगमवाप्स्यसि'** कहकर इस बात का स्पष्ट संकेत दिया है कि समाधि के द्वारा बुद्धि की अचला स्थिति होने पर योग की प्राप्ति होती है जिससे आत्मा कैवली भाव अथवा अद्वैत रूप में अवस्थित हो जाता है।

आचार्य शंकर ने योग की महिमा मुक्तकंठ से गाई है इसे वह वेदान्त मत से भिन्न नहीं मानते। किन्तु शनैःशनैः इस मत के अनुयायी अपने को योग मत से भिन्न मानने लगे। धीरे–धीरे योग और वेदान्त के मध्य दूरी बन गई। अर्वाचीन कतिपय वेदान्त वादी योग सिद्धान्तों का खण्डन करते देखे जाते हैं। वस्तुतः ऐसे लोग योग के स्वरूप को समझते नहीं है। योग और संन्यास भले ही व्यवहार में दो अलग–अलग शब्द है किन्तु ये दोनों एक

ही तत्व के दो रूप है। इस तत्व का ठीक–ठीक स्पष्टीकरण भगवान ने गीता में किया है–

न ह्यसंन्यस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन्

जो संकल्प विकल्पों का त्याग नहीं कर सकता वह कदापि योगी नहीं हो सकता। आगे फिर कहा– **'यं संन्यासमिति प्राहु योगम् तं विद्धि पाण्डव !'** 'हे अर्जुन ! जिसे संन्यास कहा जाता है उसे योग जानो।'' भगवान के वचनानुसार एक ही बात सामने आती है कि जब तक साधक का मन संकल्प–विकल्प रहित होकर समाधिस्थ नहीं हो जाता तब तक न वह योगी है और न ही संन्यासी। सांख्य और वेदान्त दर्शन यद्यपि दो अलग–अलग दर्शन है किन्तु इनके मौलिक एकरूपता के प्रमाण स्वरूप शास्त्रों में कहीं–कहीं एकार्थक के रूप में भी प्रयुक्त हुये है। गीता में भगवान दो प्रकार की निष्ठाओं का वर्णन करते है–**'ज्ञान योगेन सांख्यानाम् कर्मयोगेन योगिनाम्'**। अर्थात् ज्ञानमार्ग से सांख्यमत एवं कर्म मार्ग से योग मत। इस प्रकार मनुष्यों के अधिकारी भेद से दो मत अथवा निष्ठा की प्राचीन काल से ही परम्परा चली आ रही है। गीता में भगवान सांख्य और संन्यास को एक अर्थ में प्रयुक्त करते हुये कहते है– **'एकं सांख्य च योगं च यः पश्यति स पश्यति'** अर्थात् सांख्य और योग को जो एक रूप में देखता है वह यथार्थ देखता है। पुनश्च–

संन्यासस्य महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।

अर्थात् सांख्य अथवा संन्यास बिना योग के प्राप्त होना कठिन है जबकि योग युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार भगवान ने सांख्य को संन्यास अर्थात् ज्ञान मार्ग माना है। उपनिषदों में 'यति' शब्द का प्रयोग बहुत अधिक पाया जाता है। योग में रुचि रखने वाले इसका अर्थ योगी करते हैं और वेदान्ती लोग 'यति' से संन्यासी अर्थ लेते हैं। वस्तुतः 'यति' शब्द का अर्थ है तत्व प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति। आज के समय में भले ही हम लोग इसका अर्थ विभाजित कर लें किन्तु वस्तुतः यह शब्द मत सम्प्रदाय में आबद्ध न होकर सभी तत्वान्वेषियों के लिये प्रयोग किया जाने वाला शब्द है। मत व सम्प्रदाय के दायरे में बंधी वृत्ति वाला व्यक्ति पूर्वाग्रह से ग्रसित रहा करता है। इसलिये अपने मत व विचार को ही श्रेष्ठ समझकर दूसरे के सिद्धान्तों को अग्राह्य व अल्पग्राह्य मानता है। इस प्रकार की बातें उन्हीं लोगों में पाई जाती हैं जो वस्तुतः अपने मत या सिद्धान्तों के भी अनुभवी नहीं होते। यदि उसे अपने सिद्धान्तों का अनुभव होने लगे तो वह किसी भी श्रुति मूलक अन्य मत को कभी अल्प महत्व नहीं देगा। क्लिष्टाक्लिष्ट वृत्तियों का क्षय करने के लिये अभ्यास और वैराग्य दो प्रमुख साधन महाराज पतञ्जलि देव जी ने बताये हैं। जहाँ योग हमें अभ्यास में रत रखता है वहाँ वेदान्त हमें ज्ञान व वैराग्य देता है। वेदान्त का ज्ञान साधक को अहर्निश सजग रखता है योग–वेदान्त योगी को ज्ञान एवं कर्म का दिया संदेश देकर मानव को लक्ष्य तक पहुँचाते हैं। ये पक्षी के दो पंख के समान हैं जिनसे पक्षी इस अनन्ताकाश में उड़ान भरने में समर्थ हुआ करता है।

भगवान में गीता को **'गीता मे हृदयम् पार्थ** अर्थात् गीता मेरा हृदय है' ऐसा कहा है। किन्तु योग–वेदान्त को गीता का हृदय कहा जाये तो अनुपयुक्त नहीं होगा। योग से ही सम्यक् दृष्टि मिलती है। इसी से मानव जीवन अमृतमय बनता है। इसलिये साधकों को चाहिये कई प्रकार के मत, सम्प्रदाय एवं पन्त के अनुयायियों से भ्रमित न होकर स्वमार्ग पर चलते रहो। अपने मार्ग पर चला हुआ व्यक्ति लक्ष्य तक पहुँच जाता है। साधक को भगवान के ये वचन याद रखने चाहिये–**स्वधर्मे निधनः श्रेयः परधर्मो भयावहः।**

***

शक्ति जागरण का मूलमंत्र सद्‌गुरुकृपा

प्रोफेसर आचार्य **चन्द्रहास शर्मा**, दिल्ली

श्री सद्‌गुरु सत्ता नरदेहधारी भगवत् सत्ता है। जो स्थूल शरीर का आलम्बन लेकर तो कभी निर्माण शरीर के द्वारा जीवों को माया कञ्चुक से अलग कर आत्म साम्राज्य में प्रतिष्ठित करने का विधान करती रहती है। बिना सद्‌गुरु सत्ता की कृपा के किसी जीव का उद्धार सम्भव नहीं है। सद्‌गुरु स्वयं जीवन्मुक्त, महाज्ञानी और स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीरों से परे चिद्रूप होते हैं। भगवान योगेश्वर श्रीकृष्ण ने उनके लिए ही **'ज्ञान–विज्ञान तृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः। युक्त इत्युच्यते योगी सम्लोष्ठादि काञ्चनः।'** यह लक्षण निरूपित किया है। सद्‌गुरु और युक्तयोगी एक ही सत्ता है। वहाँ ज्ञान और विज्ञान की पराकाष्ठा होती है। संसार प्रपंच से ऊपर साक्षी भाव मे प्रतिष्ठित जितेन्द्रिय एवं सोन मिट्‌टी में समभाव रखने वाले तत्व दृष्टि युक्त युक्तयोगी शक्ति के खजाने होते हैं। उन्हीं से दीक्षा कर्म सम्पन्न होता है। सद्‌गुरुसत्ता सम्पन्न योगी निर्माण काय से अधिकारी साधकों पर दीक्षा कर्म द्वारा शक्तिपात किया करते हैं।

हमारे आराध्य श्री सद्‌गुरुदेव जी महाराज अपने गुरुदेव श्री आनन्दकन्द प्रभु रामलाल जी महाराज के विषय में अपने श्री मुख से कहा करते थे कि उन्होंने नैपाल हिमालय से आकर निर्माण–शरीर से शक्तिपात दीक्षायें दीं। अपने नित्यचेतन तुरीय शरीर से वे समाधिस्थ रहते है और निर्माण शरीर से लोकोपकार के कार्य आज भी करते हैं। उनकी शक्तिपात दीक्षा पाकर साधक क्रमशः स्थूल, सूक्ष्म और कारण और उसके परे सत्य स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। योग सिद्धि इतनी आसान नहीं है। साधक को सात घाटियाँ पार करनी पड़ती है। सात भूमिकाओं में स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करते ही शक्ति का आभास होने लगता है। सूक्ष्म से कारण में प्रवेश करते ही सन्धि स्थल में प्राण और मन के सन्धि स्थल में अलौकिक शक्तियों का स्रोत फूटता है। उन शक्तियों का लोकोपचार में अत्यन्त् विनययुक्त होकर निरहंकार दशा में प्रयोग करने से पतन से रक्षा होती है। अन्यथा अहंकार और वासना की खायी में पतन अवश्यम्भावी है। इसे योगी चौथी विकट भूमिका बताते हैं। इस भूमिका से आगे मनोराज्य को लाघंकर भावराज्य में आरूढ़ होने पर भगवद् विरह सताता है। यह विरहावस्था की तड़पन ही भगवद्‌दर्शन का द्वार खोलने वाली भूमिका है। इसके आगे भगवद् प्राप्ति कराने वाली सातवीं भूमिका है। जिसमें आत्मा स्वयं में अनन्त शक्ति और अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द का अनुभव करता है। इस अवस्था में निर्माणचित्त द्वारा सिद्धयोगी दूसरी आत्माओं को भी शक्ति, ज्ञान और आनन्द का प्रसाद देता है। जिससे बन्धन में पड़ी हुई अन्य आत्माऐं मुक्ति लाभ कर सकें। प्रत्येक भूमिका में निरपेक्ष गुरुकृपा ही साधक का मार्ग–दर्शन करती हुई विघ्नों से उसकी रक्षा करती हुई उसकी वासना का क्षय और मनोनाश करके सत्य स्वरूप परमात्मा से उसे अभिन्न करती है। बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता का विकास जितना–जितना बढ़ता चला जाता है। उतनी–उतनी अलौकिक शक्तियों का

आविर्भाव साधक में होता जाता है।

जैसे ही साधक स्थूल शरीर का अतिक्रमण कर अन्तर्मुखी वृत्ति के बल से सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करता है, उसकी बाह्य चेतना सिमट कर अन्तश्चेतना के रूप में सूक्ष्म जगत् के रूप, रस, गन्ध आदि विषय अनुभव कर नये संस्कार पैदा करने लगती है। इससे बिन्दु में क्षोभ पैदा होने से शक्ति का अविर्भाव होने लगता है। लोक लोकान्तरों में मन भ्रमण कर अपने को विशेष शक्ति सम्पन्न अनुभव करने लगता है। सूक्ष्म और कारण शरीर के बीच में शक्ति का विकास पूर्वापेक्षा अधिक तीव्र होता है। इससे भावना और वासना की तीव्रता आ जाती है। यहाँ से सभी शक्तियों का नियन्त्रण भी होता है। दूसरों के मन की शक्तियों का नियन्त्रण सूक्ष्म और कारण शरीर के सन्धि स्थान से किया जाता है। किन्तु यह तभी सम्भव है जब प्रलोभन, वासना और अहंकार की तीव्रता पर संयम सिद्ध हो सके। यहीं योगी की परीक्षा होती है इस भूमिका में पहुँचकर योग साधक अपनी शक्ति को चमत्कार दिखाने के चक्कर में पड़े बिना नहीं रहता। ऐसा होते ही उसका पतन हो जाता है। यदि समुद्र पीकर भी ओठ सूखे रख सके तो शक्तियों का मनमाना प्रयोग नहीं होने से योगी पतन से बच जाता है। इस भूमिका पर स्थित साधक यदि अपनी शक्ति का प्रयोग किसी के आध्यात्मिक उत्थान के लिए करता है और श्री गुरु को उसके पुण्य का फल सर्वतोभावेन समर्पित करता चलता है तो उसका पतन नहीं होता। गुरुदेव उसकी सदा रक्षा करते रहते हैं। आध्यात्मिक उत्थान से तात्पर्य है कि कोई साधक भजन ध्यान और ईश्वर भक्ति करते हुए किसी संकट में फँस जाय अथवा रोग ग्रस्त हो जाय, उसका मन सर्व समर्थ सद्गुरु की भक्ति से विचलित होने लगे या निराशा से घिर जाय तो ऐसी अवस्था में सूक्ष्म स्तर पर स्थित साधक अपनी शक्ति द्वारा गुप्त रूप से भक्त साधक का परोपकार कर उसकी सहायता कर दे तो कोई दोष नहीं है। किन्तु यदि परोपकार करते समय 'स्मय' (अहंकार) का भाव आ गया तो पतन सम्भव है। अहंकार ही साधक के पतन का कारण है— चाहें वह स्थूल में रहे अथवा सूक्ष्म रूप से सम्भाव नम्रता आदि गुणों के रूप में।

पतन की यह घाटी अपने बलबूते पर लाँघी नहीं जाती। क्योंकि शक्ति का उद्गम वेग मन को बेकाबू कर देता है। जो सद्गुरु की भक्ति करते रहते हैं। उनके ऊपर पूर्णरूप से निर्भर रहते हैं, उन्हें ही अपनी रक्षा का भार सौंप देते है, तो उनके मंगलमय विधान के फलस्वरूप साधक के अन्दर शक्ति का प्रवाह द्वार बन्द रहता है। जिससे साधक में अहंकार आने का कोई खतरा नहीं रहता। वह अज्ञानी अबोध बालक सा बना रहता है। जिस पर गुरुदेव अपनी अहेतुकी कृपा अधिक करते हैं और कभी–कभी विषम परिस्थितियों का सामना करने का अवसर प्रदान करते रहते हैं। कभी–कभी साधक अपने को नाना प्रकार की विपत्तियों के चक्रव्यूह में पाता है। यह सब खेल श्री गुरुदेव की कृपा का ही है। इस तरह से साधक को वास्तविक कल्याण ही किया करते हैं। विपत्तियों के बाद साधक अपने को मजबूत और उन्नत पाता है। श्री मद्भागवत् में भगवान कहते हैं कि जिस पर मैं विशेष कृपा करता हूँ उसका सब धन छीन लेता हूँ। फिर वह मुझे दीन होकर स्मरण

करने के सिवाय कुछ नहीं करता। उसके भाई–बन्धु भी उसे निर्धन समझ उससे अपने ममत्व का सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। अब उसके लिए मैं ही अवलम्बन रह जाता है। तब वह मुझे प्रिय लगता है। मैं और वह मिलकर एक होते हैं। इस अवस्था में मेरी पूर्ण कृपा हुआ करती है। निराश्रय और निरालम्ब अवस्था में जब साधक डूब जाता है तो चित्त सर्वतोभावेन एकाग्र हो जाया करता है। इस अवस्था में बाह्य शक्तियों का आलम्बन नष्ट हो जाया करता है। साधक की अर्न्तशक्ति का विकास इसी भूमिका से प्रारम्भ होता है। मनोमय कारण जगत में पदार्पण करने पर अन्तर्मुखी वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिससे योगी भावराज्य में प्रवेश कर निर्विकल्पक निज बोध रूप अवस्था में स्थित हो जाता है।

उस समय योगी को **विश्व** मन या **समष्टि मन** का अनुभव होता है। विश्व के सम्पूर्ण मनों का भाव उसके निजभाव और स्वभाव में व्याप्त हो जाता है। उस अवस्था में **'जित देखौं तित श्याममही है'** की स्थिति होती है। सर्वत्र भगवान के दर्शन होने लगते हैं। यहाँ तक मन का ही खेल है। भगवदर्शन भी मन का ही चमत्कार है। इससे जीवन का लक्ष्य नहीं मिलता। जैसे कोई खजाने में खजांची बनकर अरबों–खरबों रुपयों का दर्शन करे तो उससे उसका काम नहीं चला करता। उसका गुजारा तो उससे चलता है जितना रुपया उसको वेतन के रूप में उसका अपना होकर मिला करता है। इसी प्रकार देवी–देवताओं के दर्शन हो जाने मात्र से योग सिद्धि नहीं मिलती। भगवद् प्राप्ति बिना जड़–चेतन की गाँठ खुले नहीं होती। भगवद् प्राप्ति अभेद, अद्वैत स्थिति है। जब भगवद् विरह से मन का परदा भी हट जाता है। तब निज स्वरूप परमात्मा की प्राप्ति होने पर जनम मरण का चक्र सदा–सदा के लिए कट जाता है। कारण शरीर के भीतर भावराज्य में भगवत्प्रेम और महाभाव की अवस्था की उपलब्धि होती है। इस अवस्था की उपलब्धि सद्गुरु की करुणा के बिना सम्भव नहीं। यहाँ ज्ञान और पुरुषार्थ का बल काम नहीं आता। सद्गुरु ही करुण कृपा से इस अवस्था में स्थिति योगी समस्त शक्तियों के मूल स्रोत का साक्षात्कार करता है। इस अवस्था में अपनी दिव्य शक्तियों से सिद्ध पुरुष योग मार्ग के भक्ति भावापन्न साधकों का मार्गदर्शन किया करते हैं। संस्कार शून्य अवस्था में सिद्ध लोग आत्म रमण करते हैं। उससे पूर्व वे अपनी शक्तियों से साधकों का कल्याण करते रहते हैं। काल, कर्म, नियति और संस्कार कोई भी सिद्धयोगियों के मार्ग में बाधक नहीं हो सकते। श्री गुरुदेव और आनन्दकन्द श्री प्रभु जी यद्यपि स्थूल शरीर में आज नहीं हैं किन्तु साधकों के लिए वे जहाँ चाहते है, वहाँ प्रकट होकर उनपर हर प्रकार की कृपायें करते रहते हैं। यहाँ तक कि बहुत से साधकों को मंत्री दीक्षा, शक्ति पात दीक्षा और ज्ञानोपदेश भी उन्होंने दिये हैं। सद्गुरु सत्ता का कभी अभाव नहीं होता। आत्म विकास के लिए सद्गुरु सत्ता का दृढ़ आधार अनिवार्य है। सद्गुरु की करुणा से परोक्ष शब्द ज्ञान मनोगत, बुद्धिगत होते हुए चैतन्य रूप में स्फुरित होकर अमन्द, असीम आनन्द स्वरूप में स्वसंवेद्य आस्वादन योग्य प्रत्यक्ष हो जाता है। स्थूल से सूक्ष्म की यात्रा करने पर द्वितीय भूमिका में ही विभूतियों का उदय होने लगता है और चतुर्थ अवस्था तक विभूतियाँ साधक के मन को मथकर रख देती है। सद्गुरु सेवा, स्मरण और भक्ति से मन की एकाग्रता, चित्त

का संयम, इन्द्रियों की उद्दाम शक्ति पर नियन्त्रण आसानी से हो जाता है। विवेकशील और संयमी साधक मन पर विजय प्राप्त कर इन्द्रियों के बिना मन से ही अभीष्ट स्थान में प्रकट होकर काम कर सकता है। ऐसा तभी होता है जब मन वासना रहित और गुरुभक्ति युक्त होता है। जैसे जब तक पक्षियों के बच्चों की आँखें नहीं खुलती तब तक उनकी माँ उनकी चोंच में दाना स्वयं डालती हैं। आँखें खुलने और पंख होने पर बच्चों को स्वयं प्रयत्न करना पड़ता है। इसी प्रकार जिनका आधार दृढ़ है। कर्म शुद्धि, भाव शुद्धि तथा आधार शुद्धि परिपूर्ण है, गुरुभक्ति रोम–रोम में रच गयी है, ऐसे साधकों को सद्गुरु छः भूमिकायें हँसते–खेलते पार करा देते हैं। किन्तु जो गुरुभक्ति शून्य हैं। स्वयं गुरु बनने का पाखण्ड करते हैं, वे गुरु कृपा से वंचित रहते हैं उनकी पहाड़ों की ऊँचाई पर पहुँचकर भी नीचे की खाई में पतन होते हुए देखा जाता है।

साधना पथ में निर्विघ्न सफलता चाहने वाले साधकों को सदा सर्वदा गुरुभक्ति करनी ही चाहिये। सिद्धगुरु साधक की छठी भूमिका तक सदा सहायता करते हैं। छठी भूमिका के बाद योगी का अहम् भगवत्सत्ता के पूर्ण अहं में विलीन हो जाता है। इस अवस्था में न गुरु रहता है न चेला। यह एक अभेद, पूर्ण ब्रह्म परात्रह्म की स्थिति जीवनमुक्ति का अन्तिम सोपान है। सिद्धयोग के साधकों को इसी मार्ग से चलकर अनेक जन्मों के दुर्लंध्य मार्ग को विहंगम गति से इसी जन्म में पार करना है। गुरु भक्ति से अन्दर की शक्ति स्पन्दित होती है। जब तक बहिर्मुखी इन्द्रियों के कर्म द्वारा साधना होगी वह उपासना नहीं बन पाती। इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुखी हैं। जब तक अन्तर्मुखी प्रवाह उदित नहीं होता तब तक योग, ज्ञान अथवा भक्ति प्रयास मात्र है। आँखें जन्म से ही रूप दर्शन कर रही हैं, क्या कभी तृप्ति मिली है ? कान शब्द सुन रहे हैं। क्या तृप्ति मिली है। नेत्र देख पाते हैं, पर सुन नहीं पाते, गन्धास्वादन ग्रहण नहीं कर पाते, स्पर्श नहीं कर पाते। अतः सभी इन्द्रियों का व्यापार खण्डात्मक तृप्ति देता है। अखण्ड तृप्ति श्री सद्गुरु की कृपा शक्ति से सुषुम्ना के अन्दर प्राणों के सहज प्रवाह से मिला करती है। सुषुम्ना वाही प्राणों की गति साधक को बालकवत् निर्मल बना कर कैवल्य की प्राप्ति करा देती है। इसी स्थिति की प्राप्ति का उपाय भगवान श्री कृष्ण ने गीता में कहा है— **'समंकाय शिरोग्रीवं, धारयनचलं स्थिरः।**

संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्॥'

अर्थात् शरीर, शिर और गर्दन को सीधा रखकर अन्य दिशाओं को न देखकर नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित करने से प्राणों की गति सुषुम्ना पथ की स्वतः स्फूर्ति धारा में होने लगती है। नासिकाग्र बिन्दु रहस्य पूर्ण है। यही शक्ति के जागरण का केन्द्र है। श्री सद्गुरु की भक्ति से मन स्वतः इस केन्द्र पर एकाग्रता का अनुभव करने लगता है। हमारी नासिका का ऊपरी भाग बाह्य स्थान है। इस पर एकाग्रता लाभ सहजता से नहीं होता। हठपूर्वक कोई दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर रोकने लगे तो सिर में दर्द होने लगेगा। अन्तर्जगत की नासिकाग्र स्थिति पर मन जाते ही आनन्द और शान्ति चारों ओर प्रसूत होने लगते हैं। शाम्भवी स्थिति हो जाती है। जिससे बिना आलम्बन के ही दृष्टि स्थिर होने लगती है। बिना आलम्बन के मन निस्तरंग होने लगता है।

• यह सब सद्गुरु की प्रसादी है। यह सद्गुरु ध्यान और सद्गुरु को सूक्ष्म चेतन स्तर पर साष्टांग प्रणाम करने से प्राप्त होने वाली स्थिति है। **'ध्यान मूलं गुरोर्मूर्तिः' 'पूजा मूलं गुरोर्पदम्'** ये योग साधना के दो बड़े रहस्य मय संकेत है। पूरक–कुम्भक और रेचक के साथ अनुलोम–विलोम रीति से यह क्रिया सम्पन्न होती है। भावना द्वारा साष्टांग प्रणाम करते ही आत्म निवेदन के साथ सद्गुरु सत्ता और सद्गुरु शक्ति अन्तर्भूमिकाओं में अवतरित होने लगती है। आत्म निवेदन अपने अणु सत्तात्मक अहंकार का पराहम् व्यापक सद्गुरुसत्ता में समर्पण करने की स्थिति है। अहं शून्य होते ही साधक के अन्दर सद्गुरु सत्ता अपना कार्य करने लगती है। इसीलिए सिद्धयोग को सद्गुरु कृपा योग भी कहा जाता है। साधना के लिए देह शुद्धि आवश्यक है। इसकी शुद्धि साबुन और जल से न होकर श्री सद्गुरु भक्ति के प्रेम जल से होती है। गोस्वामी जी कहते हैं–**प्रेम भगति जल बिन खगराई। अभ्यन्तर मल कबहुँ न जाई।** जब तक प्रेमा–भक्ति का हृदय में उदय नहीं होता तब तक देह शुद्धि नहीं होती। अश्रुपात, रोमांच गद्गद् वाणी और गुरुदर्शन की तीव्र लालसा की अग्नि से यह माता–पिता प्रदत्त रज वीर्य के संयोग से उत्पन्न हेतु गुरुभाव को हृदय में भरने से शुद्ध होती है। भाव शरीर ही साधना के लिए उपयोगी है। भाव शरीर में विशुद्ध सतोगुण का उत्कर्ष होता है। उसी देह में बिन्दु नाद कलामयी कुण्डलिनी शक्ति इष्ट देवता के रूप में स्थित है। अतः इष्ट देव की पूजा के लिए स्वयं देव शक्ति से समन्वित होना आवश्यक है। प्रसिद्ध है–**'देवो भूत्वा देवं यजेत।'** देवता बनकर देवता का पूजन करने से इष्ट सिद्धि होती है। गुरु की कृपा शक्ति ही चित्त शक्ति है, जो साधक के बिन्दु में संचरित होकर उसे कम्पितकर नाद और ज्योति की सृष्टि करती है। यह कार्य दीक्षा सम्बन्ध से भाव सम्बन्ध बनने पर गुरुकृपा से आवरण हटने पर होता है। अतः साधक को गुरुकृपा का अभिलाषी उसी प्रकार रहना चाहिये जिस प्रकार चातक सदा ही स्वातिबूंद की अभिलाषा लेकर जीवनयापन करता है।

***

तप न करने वाले को आत्म-ज्ञान प्राप्त नहीं होता और न उसे कर्म ही सिद्ध होता है। जो तप से पापरहित हुआ है, जो उत्तम प्रकार से योगयुक्त (समत्व युक्त) होकर सतत् चिन्तन करता है उसे ब्रह्म द्वार प्राप्त होता है। अतः विद्या से, तप से तथा चिन्तन से ब्रह्म-प्राप्ति होती है।

अमोघ स्मृति

डा० विजय सिंह, गोरखपुर

अद्वैत बोध प्राप्त संतों, योगियों का कथन है, सभी ब्रह्म ही हैं। माया ने विस्मृति कर रखा है। प्रार्थना, उपासना, भक्ति योग करने से जीव का विस्मृति भाव नष्ट होकर अमोघ स्मृति की प्राप्ति होती है। हम उस परमात्मा से अभिन्न है। हम हर समय अपने को स्थूल काया रूप अथवा मनो संवेदनाओं के प्रभाव से जड़ित कुछ उद्वेग राशि के ही रूप में सब समय अनुभव करते रहते हैं। वास्तव में मैं क्या हूँ। विचार पूर्वक गहराई से बार–बार होश के साथ किया गया चिन्तन थोड़े ही दिनों में स्पष्ट कर देता है कि मैं शरीर (रूप) विशेष नहीं हूँ। शरीर के निषेध द्वारा हम विचार तल पर पहुँचते हैं। क्या हमारे विचारों के पुंज, जाग्रत, स्वप्न, सुश्रुप्ति के सम्पूर्ण अनुभव ही "मैं" है। यहाँ विशुद्ध जिज्ञासा, तीव्र मानसिक एकाग्रता के बिना कोई भी निर्णय पा सकना सम्भव नहीं है। ज्यों–ज्यों गहराई से "मैं" का अन्वेषण सूक्ष्म तल पर पहुँचता है विचार शांत होने लगते हैं। वृत्तियों की उर्मिया शिथिल होकर मानस पटल पर कुहासा, धुआँ, ज्योति उर्मियों और आगे बिन्दु–नाद में परिणित होते अनुभव में आते हैं। यह सब भी "मैं" का यथार्थ रूप नहीं है।

जिस प्रकार से जागतिक प्रगाढ़ कर्मों में आसक्त व्यक्ति को अपने अव्यक्त, अनन्त, अव्यय आत्म स्वरूप की विस्मृति रहा करती है उसी प्रकार आत्मानुसंधान रत व्यक्ति को जागतिक प्रपंच के साथ–साथ मनो संवेगों के सुख–दुःख भी विस्मृत होने लगते हैं और तब वह अर्न्तजगत में स्मृत को प्राप्त होने लगता है।

ध्यान के द्वारा यथार्थतः हम कायिक मानसिक विस्मृत ध्यान–काल में पाते है साथ ही अन्तर्बोध रूप स्मृति का प्रसार ध्यान द्वारा ही प्राप्त होने लगता है।

ऊपर निषेधात्मक रूप से स्थूल, सूक्ष्म, कारण महाकारण शरीर को "मैं" के रूप में स्वीकार न करने पर सतत् "मैं" का ही खोज अन्त में स्वरूप बोध का कारण बनता है। महाप्राज्ञ सद्गुरुओं ने एक विधेयक रास्ता भी दिखाया है। क्योंकि निषेध का रास्ता अत्यन्त कठिन है। कुछ वैसा ही जैसा घने अन्धकार से आविष्ठ कक्ष में से अंधकार हटाने के उद्यम जैसा। विधेयक रास्ता है, स्वयं को दुर्बल, पतित न मानकर शुरू से ही हमें अपने को अव्यय, परम स्वतन्त्र, प्रकाश रूप ब्रह्म समझें और इस धारणा को प्राणों में मंत्र रूप आन्दोलित करके अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञान मय कोष, आनन्द मय कोष के मलावरण का निस्तारण करें। इन कोषों की दुर्बलतायें ही हमारे स्मृति के आवरण हैं। अथवा आत्मस्वरूप की विस्मृति के कारण हैं।

शरीर का निर्माण कोषिकाओं के समुच्चय से सम्पन्न हुआ है। स्थूल रूपाकार काया अन्न एवं प्राण

मय कोषों के आधार पर टिका हुआ है। सूक्ष्म शरीर प्रणमय एवं मनोमय कोषों द्वारा निर्मित है। अतः सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्राणमय कोषों द्वारा अर्न्तसम्बन्धित है। या इसे इस प्रकार समझें कि मनो जगत् का फैलाव प्राण के माध्यम से स्थूल शरीर में भी सवत्र व्याप्त है। अतः विचार ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से कार्यरूप में परणित होकर हमारे स्थूल काया को भी बहुत मात्रा में प्रभावित करते हैं। वही शरीर स्थूल रूप से जरा जीर्ण ज्वर ग्रस्त रोग ग्रस्त होने पर मनोजगत को प्रभावित करते हैं। कहावत है एक स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ विचार निर्मित होता है।

स्थूल अन्नमय कोष से भी अति सूक्ष्म प्राणमय कोष है। प्राणमय कोष से भी अति सूक्ष्म मनोमय कोष है। जितना सूक्ष्म उतना ही सशक्त शक्ति उद्रेक के केन्द्र है ये कोषिकायें कारण शरीर मनोमय व विज्ञान मैं कोषों से निर्मित अति सूक्ष्म प्राकृतिक कारक है। सामान्यतः जो साधना से जुड़े लोग नहीं है उन्हें इस शरीर का आजीवन कोई अनुभव भी नहीं होता। मूढ़ा अवस्था अथवा क्षिप्ता अवस्था के प्राणी अन्नमय एवं प्रणमय कोषों के निम्न तलीय उद्रेकों पर ही जीवित रहकर पशुवत आचरण करते हुये मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। अथवा योगसाधना द्वारा, भाव साधना द्वारा प्राणों की विशेष साधना द्वारा कारण शरीर का प्रत्ययीकरण तथा इसके सबल होने पर नाना प्रकार की सिद्धियों–निधियों का बोध साधक करता है। ये सभी प्रकृति की सूक्ष्म कारिकायें कारण शरीर के जाग्रत होने पर योगियों को सहज उपलब्ध होते है। विज्ञान एवं आनन्दमय कोषों द्वारा महाकारण शरीर निर्मित है। साधनारत महावैराग्यवान, सिद्धियों के प्रलोभन में न भटकने वाले योगी अथवा भाव राशि से विशुद्ध प्रेम में पगे भक्त ही इस अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर की स्मृति लाभ करने में समर्थ होते हैं। ध्यानाभ्यास द्वारा जिस भाग्यवान ने अपने इन सभी काया व्यूहों का स्मृतिलाभ कर लिया है वही आगे समाधि जनित परम प्रज्ञा द्वारा ब्रह्मानन्द रूप अपने आत्मा का दर्शन पाता है। कठोपनिषद के इस मंत्र को देखें–

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।।

अर्थात् जो योगमाया के पर्दे के पीछे छिपा हुआ सर्वव्यापी सबके हृदय गुफा में स्थित है। वह सनातन संसार रूप गहन वन में रहने वाला कठिनता से दृष्टिगोचर ब्रह्म का उसी को दर्शन होता है जो आध्यात्म योग के द्वारा शुद्ध बुद्धि वाला है जो हर्ष–शोक से रहित है।

इन चारों शरीरों में जो गुणात्मक लक्षण क्रम से आनन्द, विज्ञान, चिंतन, स्पन्दन, स्थूलत्व है इन सब में शक्ति का प्रवाह हमारे आत्मा का ही है। हमें स्मरण होगा कि हमारे परम करुर्णाव श्री प्रभु जी अपने मुखारविन्द से **"आहार सुद्धौ सत्व सुद्धी सत्व सुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः"** तथा **"श्रद्धा वीर्य स्मृति प्रज्ञापूर्वक इतिरेशाम"** के महत विज्ञान को सदैव हम लोगों को यथेष्ट रूप से समझाते रहे हैं।

विशुद्ध स्मृति के बिना आत्म–बोध असम्भव है। श्रद्धा से वीर्य लाभ से, अपूर्व स्मृति लाभ से ऋत

धारी बुद्धि के प्रकाशित होने से ही समाधि लाभ होता है। जहाँ आत्मा, एवं परमात्मा का ज्ञान सन्निहित है। हमारी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण जब तक प्रकृति के स्पन्दनों से हमारे स्मृति को जड़ी भूत किये हुये है तब तक हमारे अपने स्वरूप का विस्मरण रहता है। साधना द्वारा ज्यों–ज्यों हम अपने कोषों की शुद्धि करते हुये आत्मा के निवेश रूप चारों शरीरों को मलरहित बनाते हैं त्यों ही आत्म प्रकाश में प्रज्ञा का जागरण हमारे अमोघ स्मृति का कारण बन जाता है। इस अपूर्व दृश्य में योगी देखता है कि जो मैं था वही हूँ यह मैं सर्वभूत मय है। यही आत्मतत्व है। कुछ अलग से पात्र समाधि में घटित नहीं होता अपितु जो सदैव से शाश्वत रूप से अधिकारी हमारा अस्तित्व है वही प्रकट हो जाता है।

दूसरा आहार शुद्धि पर हमें विचार करना चाहिए। अन्नमय कोष को परिष्कृत करने हेतु सतो प्रधान आहार, साधना में सहयोगी आहार की आवश्यकता पड़ती है। आहार ऐसा करना होगा जिससे बने रस रक्त धातु विशिष्ट सतो प्रधान हो। मूलतः इनसे उत्पन्न वीर्य उत्कृष्ट हो जो प्राणायाम द्वारा ओज में परिवर्तित हो सके। क्योंकि प्राणायाम द्वारा प्राणमय कोषों की शुद्धि होने से अतिद्रीयता की उपलब्धि साधक को होती है। सूक्ष्म शरीर जो प्राणमय एवं मनोमय कोष द्वारा निर्मित है उसका आहार स्वाध्याय, मंत्र जप दिव्य भावों की उत्पत्ति हेतु आरती पूजन, आत्म समर्पण सेवा भाव आदि है। इस प्रकार के सात्विक चिन्तन से मनोमय कोष के विकार नष्ट होकर पुष्ट सात्विकता के कोष सदैव के लिये स्थिर होते हैं। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोष के पुष्ट होने पर ही साधक में वह बल उत्पन्न होता है जिससे वह कारण शरीर में व्याप्त विज्ञान बोध को प्राप्त होता है। अन्यथा नहीं। उपनिषद का कथन है आत्मा को कोई बल हीन व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

अतः हमें विशुद्ध स्मृति के लिये चारों शरीर के उपयोगी आहार की व्यवस्था करनी होगी तब कहीं आत्म द्वार पर हमारा बोध जाग्रत होगा।

***

जब साधक, नाम, रूप, देह, मन, बुद्धि आदि से अपने को सर्वथा पृथक समझ लेता है तब वह ईश्वर की शरण और कृपा से देहादि सम्बन्ध से होने वाले समस्त क्लेशों और पापों से सदा के लिए सर्वथा मुक्त हो जाता है एवं विज्ञानानंदघन परमात्मा का सनातन अंश होने के कारण सदा के लिए प्रभु को प्राप्त हो जाता है।

अद्भुत कृपालीला

लेखक—राजेश कुमार श्रीवास्तव (राजू)

चौथी किस्त

जुलाई अंक में हमने पढ़ा—

वरिष्ठ गुरुभाई श्री रूप सिंह जी ने आनन्द स्वरूप पूज्य गुरुदेव के चरण कमलों में, जब अपने बच्चे के मुख से सुनी श्री महाप्रभुजी की कृपालीला का वर्णन किया जो गहरे तालाब में डूबने के दौरान बच्चे के अनुभव में आयी थी, तो उसमें मास्टर जी (श्री रूप किशोर जी) द्वारा पूछी जाने वाली जो विशेष बात थी वो ये थी कि करुणा निधान दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज ने बच्चे को अपने दिव्य शंकर स्वरूप की जो सुन्दर झांकी दिखलायी वह बड़ी ही भव्य और त्रिताप को हर कर समस्त आनन्दों को प्रदान करने वाली एक अविस्मरणीय घटना थी किन्तु महाप्रभुजी के सुन्दर विशाल भाल पर जहाँ एक ओर चन्द्रमा अपनी दिव्य चाँदनी बिखेरता हुआ त्रिलोकी को आलोकित कर शीतलता प्रदान कर रहा था। वहीं सर्पों से रहित श्री महाप्रभुजी के नग्न कण्ठ की बात सुनकर मास्टर जी को भारी हैरानी थी। सर्पों से रहित शंकर स्वरूप में दर्शन देने के पीछे अवश्य कोई विशेष रहस्य की बात होनी चाहिए ऐसा मन में दृढ़ विचार करके मास्टर जी ने श्री प्रभुजी के समक्ष अपनी जिज्ञासा व्यक्त की। प्रत्युत्तर में श्री प्रभु जी ने अनेक प्रकार से कर्मयोग सिद्धान्त की व्याख्या करते हुये श्री महाप्रभुजी द्वारा बालक को अपने शंकर स्वरूप में दर्शन देने का जो स्पष्ट तात्विक विवेचन किया उसे सुनकर सभी के हृदय में भारी आह्लाद पैदा होता है। और श्री महाप्रभु जी के पावन श्री चरणों में अनुराग सुदृढ़ होता है। वर्णित लीला चरित्र का शेष भाग निम्न प्रकार से है—

थोड़ा समय गुजरा। बच्चा अब पूरी तरह समझदार हो गया था। मास्टर जी ने अपने इस बच्चे का नाम कृष्णवीर सिंह तौमर रखा, जो वर्तमान में उनका प्रचलित नाम है। मास्टर जी को कृष्णवीर सिंह की शिक्षा की चिन्ता हुई उन्होंने भाई जी (श्री कृष्णवीर सिंह) को गुरुकुल विश्व विद्यालय वृन्दावन से सम्बन्धित आयुर्वेद महाविद्यालय में प्रवेश दिला दिया। शिक्षा के बहाने से कृष्णवीर सिंह जी को भगवान श्री कृष्ण जी की पावन भूमि वृन्दावन में काफी समय तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आयुर्वेद की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात अपना अंक–पत्र लेकर भाई जी जब श्री प्रभुजी के चरण कमलों में प्रस्तुत हुये तो 'आयु.महा वि. वृन्दावन' का नाम सुनते ही गुरुदेव जी बहुत प्रसन्न हुये। श्री प्रभुजी कहने लगे लला ! तुम्हारी संस्था के प्राचार्य श्री बृहस्पति शास्त्री जी हमारे सहपाठी रहे हैं। तुम उन्हें हमारा परिचय दे देना वे तुम्हारा विशेष ध्यान रखेंगे। प्राचार्य जी श्री गुरुदेव जी का नाम सुनकर बहुत खुश हुये वे समय–समय पर हर सम्भव सहायता भाई जी की करते रहे। आयुर्वेद की शिक्षा पूर्ण होने के बाद भाई जी ने एत्मादपुर में ही कुछ समय एक दुकान पर बैठकर मरीजों की चिकित्सा की।

एक रोज पं. रामाश्रये दादाजी व दादाश्री

केशवदेव जी रिक्शे में बैठ कर डा. वेद के यहाँ जा रहे थे। पण्डित जी का भोजनालय में सेवा के दौरान पैर जल गया था उसी का इलाज करा रहे थे। रास्ते में तौमर साहब की दुकान पर जब श्री महाप्रभुजी के नाम साइन बोर्ड पढ़ा तो यह सोचकर कि यह तो अपनी दुकान मालुम पड़ती है चलो आज यहीं पैर दिखा देते हैं। तौमर जी ने पण्डितजी के पैर की बड़ी श्रद्धा और लगन से सफाई करके ड्रेसिंग कर दी। चलते समय तौमरजी कहने लगे–''पण्डित जी आप रोज मेरी दुकान पर आओगे। रिक्शे आदि का खर्चा श्री प्रभुजी को उठाना पड़ेगा। मेरी प्रार्थना है कि कल से आप कष्ट मत उठाना मैं स्वयं ही आश्रम पहुँच कर तुम्हारे पैर को देख लिया करूँगा। इस बात पर पण्डितजी तुरन्त सहमत हो गये। कुछ ही दिनों की सेवा के दौरान पैर पूरी तरह से ठीक हो गया था। किन्तु एक घाव छोटा सा, ठीक नहीं हो रहा था। एक दिन घना पानी बरस रहा था। खराब मौसम में भी श्री तौमर जी पण्डित की सेवार्थ आश्रम में पहुँच गये। पण्डित जी बोले–''भईया हमारा ये घाव ठीक नहीं होकर दे रहा है तुम गुरुदेवजी से हमारे लिए निवेदन कर दो हमें स्वयं अपने लिए कहने मे थोड़ा संकोच लगता है।'' कितना आश्चर्य होता है, इतने नजदीक रहकर गुरुदेव की रात–दिन सेवा करने वाले ब्रह्मचारियों में इतना साहस नहीं था कि वे अपनी समस्या के निदान के लिए स्वयं प्रार्थना कर सकें। ये गुरुदेव के साथ उच्चकोटि के शिष्टाचार की भावना है। एक नये श्री प्रभु जी के बच्चे के मुख से मैंने सुना था कि उन लोगों के तो बड़े मजे होंगे जो श्री प्रभु जी के निकट रहकर सेवा करते होंगे जब चाहते होंगे तभी श्री प्रभुजी से कहकर अपने कार्य करवालिया करते होंगे। उनका स्पष्ट संकेत था सेवा की आढ़ में लोग बड़ी आसानी से अपने कार्य करा लिया करते होंगे। काश ! हम भी श्री प्रभु जी के समय में होते तो सेवा दिखलाकर अपने अनेकों कार्य करा लेते। ऐसा सोचना निम्न स्तर की बुद्धि का परिचय देना है। आश्रम में सेवा की सिफारिश तो करा देते थे किन्तु अपने विषय में अथवा अपने किसी व्यक्तिगत कार्य के लिए स्वयं प्रभुजी से निवेदन करने में भारी संकोच करते थे। गुरुदेव के अति निकट रहने वाले किसी ब्रह्मचारी के माध्यम से अपनी प्रार्थना श्री प्रभुजी तक पहुँचवाते थे। योगिनी उमा बहिन जी के निवेदन करने पर हजारों लोगों के कार्य गुरुदेव जी ने उनके एक बार कहने पर कर दिये ! सन् १९७८–७९ की घटना है। लखनऊ में गुरुभाई श्री मोहन लाल जी के यहाँ योग प्रचारार्थ श्री प्रभुजी पधारे हुये थे। दस दिन का प्रोग्राम था। कार्यक्रम के अन्त में एक देवी ने बड़ी श्रद्धा और लगन के साथ करुणा के अथाह सागर श्री गुरुदेवजी को अपने घर पर आमंत्रित किया। उन देवी की भावना देखकर श्री प्रभुजी ने सहर्ष उनका निवेदन स्वीकार कर लिया। उनके घर पर पूज्य गुरुदेव जी उमा बहिन जी को साथ लेकर कार द्वारा पहुँचे। उन देवी के दो लड़कियाँ और दो लड़के थे चारों बच्चों की वाणी में दोष था वे शब्दों का स्पष्ट उच्चारण करने में असमर्थ थे। बच्चों के माता–पिता उनके भविष्य को लेकर भारी चिंतित थे। सोचा गुरुदेव की कृपादृष्टि हो जाय तो बच्चों का जीवन सुधर जाये नहीं तो विकृत वाणी के रहते बच्चों का जीवन अन्धकारमय ही रह जायेगा। श्री प्रभुजी जैसे ही उनके दरवाजे पर पहुँचे वे देवी

गुरुदेव के चरणों से लिपट गईं। गुरुदेव जी ने बहुत प्यार किया। आरती पूजन हुआ। पूजा की अलमारी में श्री महाप्रभुजी के स्वरूपों के ऊपर शंकर जी का एक कलैण्डर टंगा हुआ था गुरुदेव ने वह कलैण्डर उतरवाकर श्री महाप्रभुजी के स्वरूपों को सबसे ऊपर विराजमान कराया। प्रभुजी ने कहा देखो ! आनन्द कन्द श्री प्रभुजी सर्वशक्ति मान हैं। उनके ऊपर किसी भी देवी देवता का चित्र नहीं होना चाहिए। प्रसाद वितरण के बाद योगिनी उमा बहिन जी ने जब बच्चों की वाणियों को सुना तो उन्हें बहुत दुःख हुआ। बच्चों के माता–पिता अपनी इस प्रार्थना को कहने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे थे। करुणा निधान जी अपनी हृदयस्थ भावनाओं को बराबर सुन रहे थे। श्री प्रभुजी की प्रेरणा पाते ही आ. बहिन जी बच्चों पर तरस खाते हुये कहने लगीं देखिये महाराज जी बिचारी पे चार बच्चे हैं और चारों ही तोतले–मोटले हैं। पूज्य गुरुदेव जी अपनी करुणामयी दृष्टि बच्चो पर करते हुये मुसकरा दिये। माँगने वालों ने मुँह से कुछ माँगा नहीं और दाता ने अपने श्री मुख से कुछ देने की घोषणा नहीं की किन्तु कालान्तर में दोनों के द्वारा कार्य सिद्ध हुआ दाता ने बिनमांगे दिया और ग्रहणकर्ताओ ने बिना याचना के ही सब कुछ प्राप्त किया। अर्थात् उसी रोज से श्री प्रभुजी की कृपा से बच्चों की वाणी में सुधार होने लगा था दो–चार वर्षों मे चारों बच्चे अक्षरों का स्पष्ट उच्चारण करने लगे। आज वे दोनों लड़के इंजीनियर है, दोनों का दाम्पत्य जीवन भी पूर्णरूप से सुखमय है। दोनों लड़कियों की शादियाँ अच्छे परिवारों में हुई हैं अब वे दोनों प्राणी गुरुदेव में सच्ची श्रद्धा के कारण सुखमय और सम्मान मय जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

टूण्डला से एक गृहस्थी गुरु भाई जी आया करते थे। हम बचपन से देखते आ रहे हैं उनको। हर समय वे श्री प्रभुजी की सेवा में भागते–दौड़ते नजर आते। करीब चालीस वर्ष उन्होंने श्रीप्रभुजी का सान्निध्य पाया सैकड़ों कार्यों में अपनी सेवायें प्रदान की और आज तलक भी कर रहे हैं। उन्होंने जिस गुरुभाई का निवेदन श्री प्रभुजी तक पहुँचा दिया श्री प्रभुजी तत्काल उनकी बात मान लिया करते थे। किन्तु वे अपनी एक छोटी सी समस्या के लिए श्री प्रभुजी से निवेदन नहीं कर पा रहे थे। रेतू महात्मा उन दिनों श्री प्रभुजी का भोजन तैयार किया करते थे। उन्होंने एक रोज रेतू महात्माजी से कहा–महात्माजी तुम हमारा एक निवेदन श्री प्रभुजी से कर दो। वे तुम्हारी बात अवश्य मान लेंगे। रेतु महात्मा जी ने कहा अरे ! भाई जी आप की बात प्रभुजी कभी टाल देंगे भला ? आप स्वयं कहके तो देखो। लेकिन भाई जी ने कहा मेरी हिम्मत नहीं होती तुम कह सको तो कह दो। रेतू महात्मा जी ने श्री प्रभुजी को फुर्सत में पाते ही हाथ जोड़कर निवेदन किया प्रभुजी टूण्डला वाले भाई जी काफी दिनों से अपनी लड़की के योग्य वर नहीं मिल रहा है। आप कृपा कर देंगे तो यह उनका कार्य अवश्य हो जायेगा। श्री प्रभुजी ने बड़े आश्चर्य चकित होकर रेतू महात्मा का चेहरा निहारते हुये कहा अरे लला ! ऐसी बात है उसने मुझे आजतक क्यों नहीं बताया, अच्छा ! लला को मेरे पास भेजना। श्री प्रभुजी ने उन्हें फूल का प्रसाद दिया और उनकी महान दयादृष्टि से मात्र सात दिन के अन्दर मुश्किल सा दिखने वाला कार्य पलक झपकते कब सम्पन हो गया पता ही नहीं चला।

एक और घटना याद आ रही है उसे भी लिख

देता हूँ। हिमालय प्रदेश के एक तपोनिष्ठ ब्रह्मचारी जी अपने लड़कपन अवस्था में ही घर छोड़कर श्री प्रभुजी की शरण में आ गये थे। एक बार उनके एक पैर में छाजन का रोग हो गया। खुजलाने से वह शीघ्र ही सात आठ अंगुल की लम्बाई में फैल गया। छाजन जिनके हुआ है वे ही समझ सकते हैं इसकी पीड़ा को। ब्रह्मचारी जी भारी तकलीफ में भी गुरुदेव की आज्ञा का पालन करते रहते और दर्द को सहते रहते। गुरुदेव के सम्मुख बैठकर डाक सेवा के अन्तर्गत अनेकों पत्रों के जबाव श्री प्रभुजी उनसे लिखवाते लेकिन ब्रह्मचारी जी ने कभी गुरुदेव से इस रोग के विषय में कुछ नहीं कहा। समस्त आश्रम वासियों को इस बात का पता था। कई बार लोगों ने कहा तुम महाराज जी से क्यों नहीं कहते ? लेकिन वे लोगों की बात को अनसुना कर देते। कभी गुरुदेव ने स्वयं पूछ भी लिया तो कह देते प्रभुजी फलां–फलां डाक्टर की दवा ले रहा हूँ। श्री प्रभुजी 'अच्छा लला' कहकर ही रह जाते। जिसने जो भी दवा बताई वही दवा ब्रह्मचारी जी ने की। एक रोज किसी ने कह दिया कि लाल मिर्च इसमें भरलो तो यह जल्दी सूख जायेगा। ब्रह्मचारी जी ने तमाम लाल मिर्च छाजन के भाव पर बुरक ली। दर्द से बुरी तरह छटपटाते रहे। लाभ तो कुछ हुआ नहीं पैर में तमाम सूजन हो गई दर्द काफी बढ़ गया लेकिन वे किसी प्रकार अपना समय काटते रहे और गुरुदेव की सेवा में बराबर लगे रहते। एक रोज वे गुरुदेव की आज्ञा पाकर पत्रों का जबाव लिख रहे थे कि श्री प्रभुजी की दृष्टि अचानक उनके छाजन पर पड़ी, करुणानिधान के ह्दय में करुणा उमड़ पड़ी कहने लगे बड़े प्यार से, लला ! तुम्हारा यह छाजन अभी ठीक नहीं हुआ है ? यह तो काफी बढ़ गया है। तुमने कभी हमें नहीं बताया इसमें तो बहुत दर्द होता होगा। ब्रह्मचारी जी ने बड़ी विनम्रता से कहा– ''जी प्रभुजी ! दवा लगा तार लेता रहा हूँ लेकिन ठीक नहीं होता है।'' श्री प्रभुजी ने बड़े गौर से छाजन के पूरे हिस्से को देखते हुये कहा– ''अच्छा लला ! कोई बात नहीं दवा बराबर लेते रहना लापरवाही नहीं करना।'' श्री प्रभुजी ने दृष्टिपात कर दिया था अब छाजन का बाप भी नहीं रहने वाला था। उसी दिन से छाजन बराबर सूखता चला गया इतना बड़ा घाव कब सूख कर समाप्त हो गया ब्रह्मचारी जी को पता ही नहीं चला। प्रत्येक ब्रह्मचारी और गृहस्थों के साथ ऐसी अनेकों घटनायें जुड़ी हुई हैं।

श्री कृष्णवीर, तौमर जी ने महाराज के सम्मुख विनम्रता पूर्वक निवेदन किया। प्रभुजी ! रामाश्रये दादाजी का पूरा पैर ठीक हो गया है किन्तु एक छोटा सा घाव ठीक नहीं हो रहा है। पूज्य गुरुदेव जी लाड़की वाणी में पीठ पर हाथ की एक मीठी सी थपकी लगाते हुये कहने लगे अरे लला ! तुम इतनी मेहनत कर रहे हो, बरसते पानी में आये हो पैर कैसे नहीं ठीक होगा ? जब तुम इतना पुरुषार्थ कर रहे हो तो पैर तो अवश्य ठीक होना चाहिए। सद्‌गुरु कृपा से सचमुच दो दिन के अन्दर वह घाव दृष्टि से बिल्कुल ओझल हो गया। तौमर साहब ने आश्रम आकार पण्डितजी का पैर देखा तो आश्चर्य का ठिकाना न रहा। श्री प्रभुजी अपने निवास कक्ष से सम्बद्ध स्टोर में किसी आवश्यक कार्य में व्यस्त थे। पण्डितजी को स्टोर में ही बुलाकर कहा लला रे, बहुत मेहनत की है इसने तुम्हारे साथ। इसको कुछ फीस भी तो देनी चाहिए। पण्डितजी कहने लगे वह

पहले ही कह चुके हैं कि वह आपसे कुछ भी नहीं लेंगे। श्री प्रभुजी का हृदय एकदम से पिघल गया। गुरुदेव ने बड़े स्नेह–दुलार से श्री कृष्णवीर सिंह जी को अपने समीप खींच लिया और फिर सीने से लगा कर कहा लला ! चिन्ता की कोई बात नहीं हम सदा तुम्हारे साथ है। और फिर ढेर सारा प्रसाद देकर उन्हें विदा किया।

श्री तौमरजी अपने गाँव के परिचित मरीजों से बड़े तंग आ गये थे। वे अपने इलाज का शुल्क जान–पहचान और गाँव के व्यवहार के नाते उधार कर दिया करते थे और फिर बाद में उसे चुकाते नहीं थे। श्री तौमर जी ऐसे मरीजों से बहुत दुःखी थे। परेशान होकर भाई जीने एक रोज श्री प्रभुजी के चरण–कमलों में निवेदन किया–"प्रभुजी ! आपकी कृपा से यदि मुझे कहीं नौकरी प्राप्त हो जाये तो मेरा एक बहुत बड़ा दुःख दूर हो जाये। यहाँ ऐत्मादपुर में मुझे अपने कार्य से कोई विशेष लाभ नहीं है। गुरुदेव थोड़ा सा सोचकर बोले लला ! शिक्षण कार्य सबसे बढ़िया है। सिसोदिया करके हमारे एक बच्चे हैं जो जिला शिक्षा अधिकारी है। तुम उनके पास चले जाओ कह देना हमने भेजा है वे अवश्य तुम्हारी मदद करेंगे। (मैं श्री सिसोदिया जी के निवास स्थान का उल्लेख नहीं दे रहा हूँ पाठकों से क्षमा चाहता हूँ) भाईजी अपने किराये भाड़े की व्यवस्था करके किसी प्रकार उक्त महाशयजी के निवास स्थान पर पहुँचे बड़े गर्व के साथ कहा–"हमें गुरुजी ने भेजा है। नौकरी के वास्ते।" भाई जी को पूरा भरोसा था कि गुरुदेव की आज्ञा को कौन टालेगा फिर अपने ही गुरुभाई हैं यहाँ तो काम अवश्य बन ही जायेगा। उन गुरुभाई जी ने उन्हें उपयुक्त समय पर पुनः बुलाने के लिए एक निश्चित समय दे दिया। कह दिया हम तुम्हें पत्र द्वारा बुला लेंगे। लेकिन प्रतीक्षा करते–करते काफी समय व्यतीत हो गया किन्तु वहाँ से कोई सूचना नहीं प्राप्त हुई। भाई जी ने हिम्मत करके एक पत्र लिखकर उन्हें याद दिलाना चाहा किन्तु उन्होंने पत्र का भी कोई उत्तर नहीं दिया। शास्त्रों–धर्मग्रन्थों में वर्णन है कि 'गुरुभक्ति' बड़ी दुर्लभ है। गुरु भक्ति का स्वांग करके, बहुत बोलकर, गा–बजाकर सच्चा गुरुभक्त नहीं बना जा सकता। नौकरी तो वहाँ क्या लगनी थी ? गुरुदेव भाईजी को सच्ची गुरुभक्ति क्या होती है और स्वार्थपूर्ण ढोंगमय गुरुभक्ति क्या होती है इसका स्पष्ट भेद दिखलाना चाहते थे। जो भाई जी को बाद में भली भांति स्पष्ट हो सका कलयुग में समर्पित गुरुभक्त कोई बिरला ही होता है। कुछ दिनों बाद कुछ याद करते हुये गुरुदेव जी बोले–"लला ! हमने तुम्हें जहाँ नौकरी के लिए भेजा था वहाँ से कोई काम बना कि नहीं ? भाई जी बोले –"प्रभुजी उन्होंने कोई रूचि नहीं दिखाई। आपकी आज्ञा हो तो पुनः चला जाऊँ। गुरुदेव ने कहा नहीं लला! अब वे स्वयं ही यहाँ आवेंगे तब हम उनसे बात करते रहेंगे। फिलहाल हमने तुम्हें आगरा भेजने का निश्चय किया है हो सकता है तुम्हारा वहीं संस्कार हो।

कुछ दिनों के पश्चात वे जिला शिक्षा अधिकारी जी बहुत दुःखी होकर गुरुदेव के पास आये गिड़गिड़ाते हुये बोले–"प्रभुजी ! मुझे नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया है मुझे किसी प्रकार बचा लीजिए।" गुरुदेव ने कहा लला ! हम इसमें क्या कर सकते हैं ? हमारे पास क्या है। सिसोदिया जी ने श्री प्रभुजी के चरणों में काफी अनुनय–विनय

की। अपनी भूल का उन्हें एहसास हो गया था। वे अपने अपराध के लिए बार–बार क्षमा प्रार्थना करते रहे। श्री प्रभुजी को कुछ दया आ गई उपेक्षा दिखलाते हुये कहने लगे लला ! तुम्हें वह पद तो अब मिलेगा नहीं, अब तो छोटे पद पर ही सन्तोष करना होगा। गुरुदेव की कृपा से उन्हें फिर शीघ्र ही प्रिंसीपल के पद पर नौकरी प्राप्त हो गयी थी।

अब श्री प्रभु जी भाई जी को यह दिखलाना चाहते थे। सच्ची गुरुभक्ति क्या होती है। पूज्य गुरुदेव जी ने स्वयं अपने कर कमलों से एक पत्र सुशीला देवी जी के लिए लिखा उस समय उनके पति श्री डी.एस. सिसोदिया जी आगरा जिला जेल पर जेलर थे। ट्रांसपोर्ट नगर के समीप शास्त्रीनगर में स्थित उनके निवास पर तौमर साहब जी गुरुदेव द्वारा लिखित पत्र को लेकर पहुँचे। भाईजी ने जब से जिला शिक्षा अधिकारी जी का स्वभाव देखा तभी से उन्हें सभी उच्च पदों पर नियुक्त बड़े लोग एक ही जैसे स्वभाव के नजर आते थे। उन्हें लगता सभी बड़े लोग स्वार्थी और दयाहीन होते हैं। इसलिए इस बार उनके मन में वो पहले जैसी तरंग, हलचल नहीं थी बल्कि इस बार मन में भय था पता नहीं ये बड़े लोग मुझ साधारण मनुष्य में रुचि लेंगे कि नहीं। पहले वाले भी सिसोदिया थे ये भी सिसोदिया जी हैं। कहीं पहले जैसे ही बात न हो जाए। भाई जी ने श्रीमति सुशीला देवी जी की कोठी में प्रवेश किया। दोनों जनें उस समय घर पर ही उपस्थित थे। भाई जी ने जैसे ही कहा मैं सवाई आश्रम से आया हूँ पूज्य गुरुदेव जी ने आपके लिए पत्र भेजा है। माता जी (सुशीला देवी जी) की खुशी का ठिकाना नहीं रहा, दोनों ने बड़े प्यार और आदर सत्कार से भाई जी को अपने पास बिठा लिया। हर प्रकार से सेवा की और कहा बेटा ये तुम्हारा ही घर है। इसे अपना ही घर समझना। माता जी ने बड़ी खुशी से गुरुदेव जी का पत्र खोल कर पढ़ा। उसमें लिखा था– 'देवी मैं इस बच्चे को तुम्हारे पास भेज रहा हूँ। यह है तो तुम्हारा छोटा गुरुभाई किन्तु तुम इसे पुत्रवत समझना। यह तुम्हारी हरबात को मानेगा और सेवा करेगा। इसे अपने पास रखना और इसके व्यवसाय में मदद करते रहना। सभी को बार–बार आर्शीवाद माताजी जी गुरुदेव का पत्र पढ़कर बहुत प्रसन्न हुई। कई बार पत्र को पढ़ा। सच्ची गुरु निष्ठा के प्रभाव के कारण माता जी गुरुदेव की उस आज्ञा का पालन अभी तक कर रहीं हैं। माताजी ने शुरू से ही अनेक प्रकार की मदद की। अपनी ही गली में अपनी कोठी के नजदीक ही किराये पर एक क्लीनिक की व्यवस्था करा दी। जब पत्नी और बच्चों को भी आगरा में रखना आवश्यक हो गया तो माता जी ने यह समस्या भी सरल कर दी उन्होंने अपनी ही कोठी में भाई जी को परिवार सहित रहने की व्यवस्था कर दी। वे अभी भी उनकी कोठी में रह रहे हैं। गुरुदेव की आज्ञानुसार माताजी, भाई श्री तौमर जी को पुत्रवत स्नेह देती हैं और भाई जी भी दोनों को अपने माता–पिता समझते हैं। भाई जी पर जब भी कोई समस्या आती है। माताजी तुरन्त उनकी समस्या का समाधान करती हैं। इस प्रकार गुरुदेव की इस अद्भुत कृपालीला से सच्ची और समर्पित गुरुनिष्ठा क्या होती है यह भाई जी को भलीभाँति समझ में आ गया था।

***

पुराणों में भक्तियोग

डा. स्वामी केशवाचार्य (गुजरात)

सनातन वैदिक साहित्य चार भागों में विभक्त है—संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक में कर्मयोग तथा उपनिषद् में ज्ञानयोग की विवेचना की गयी है। वेदों के संहिता भाग के मन्त्र समूह इन्द्र, अग्नि, वरुण, सविता, रुद्र आदि देवताओं के स्तोत—स्तुति से पूर्ण है। इन सब मन्त्रों के द्वारा प्राचीन आर्य लोग देवताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से याग—यज्ञ करके अभीष्ट प्रार्थना करते थे। एक ही मूल ऐसी शक्ति विभिन्न देवताओं के नाम से अभिव्यक्त है। परमेश्वर एक और अद्वितीय है यह रहस्य वैदिक आर्यों को ज्ञात था। ऋग्वेद ने अनेकों मन्त्रों में इस तत्व को घोषित किया है—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।
अग्नि यमं मातरिश्वान माहुः॥" (ऋग्वेद १/१६४/४६)

तत्वदर्शी महायोगी लोग एक ही सद् वस्तु का विभिन्न नामों से निर्देश करते हैं। वे उस एक ही सत्ता को अग्नि, यम और मातरिश्वा के नाम से पुकारते हैं—

"सुपर्णं विप्रा कवयो वचोभि।
रेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति॥" (एतरय उपनिषद १०/११४/५)

सुपर्ण या परमात्मा एक सत्ता मात्र है। इस एक ही सत्ता की तत्व दर्शी योगी लोग अनेक नामों से कल्पना करते है—

"यमृत्विजो बहुधा कल्पयन्तः।
सचेतसो अज्ञमिमं वहिन्त।" (एतरेय उपनिषद ८/५८/२)

'बुद्धिमान् ऋत्विक्गण एक ही वस्तु की अनेक प्रकार से बहुत से नामों द्वारा कल्पना करके यज्ञ सम्पादन किया करते हैं।' उसी एक अद्वितीय सत्ता को ऋग्वेद में स्थान—स्थान पर हिरण्यगर्भ, प्रजापति, विश्वकर्मा, पुरुष इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है। इस प्रसंग में ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त (१०/१२१) तथा पुरुष सूक्त (१०/९०) आदि प्रसंग आलोचनीय हैं। प्राचीन आर्यों का प्रधान धर्म था यज्ञ। अभीष्ट देवता के उद्देश्य से ये यज्ञादि कर्म श्रद्धा पूर्वक अनुष्ठित होते थे। तथा इसमें अर्चना, वन्दना, नमस्कार आदि भक्तियोग के अंग समन्वित थे। वेदों के संहिता भाग में "भक्तियोग शब्द का सुस्पष्ट प्रयोग न दीखने पर भी इस अर्थ में 'श्रद्धा" शब्द का प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

"श्रद्धयाग्निः समिद्धयते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि॥" (ऋग्वेद १०/१५१/१)

'श्रद्धा द्वारा ही यज्ञ की अग्नि प्रज्वलित की जाती है। श्रद्धा द्वारा ही हवि की आहुति दी जाती है। समस्त आराध्य की प्रधानभूता श्रद्धा का हम स्तवन करते हैं।'

वेदों के संहिता–युग में देव–विषयक भक्ति मूलक जो सहज सरल धर्म देखने में आता है, वह वेदों के ब्राह्मण युग में आकर जटिल, क्रियाविशेष बहुल यज्ञानुष्ठान में पर्यवसित होता है। कालक्रम से एक ऐसा मत प्रबल हो उठा कि 'यज्ञ कर्म ही एक मात्र धर्म है।' उसी के द्वारा जीव स्वर्ग प्राप्त करता है। इसके सिवा और कुछ नहीं है। यद्यपि यज्ञ का अनुष्ठान इन्द्रादि देवताओं के उद्देश्य से किया जाता है, फिर भी मुख्यता यज्ञ की ही है देवता गौण है, प्रयोजक नहीं है। अतएव **''यजेत स्वर्गकाम:''**–स्वर्ग कामना से यज्ञ करें, इसी का नाम ''वेदवाद'' है।

उपनिषद–युग में इस प्राण हीन वाह्यिकता के विरुद्ध प्रतिवाद की सूचना मिलती है। उपनिषदों में वेदों के कर्मकाण्ड को संसार–सागर से पार उतारने के लिए 'अदृढ़प्लव' (बेड़ा) कहकर उसकी निन्दा की गयी है।

''प्लावा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा:।'' (मुण्डक उप (१/२/७)

उपनिषद् युग में साधक की दृष्टि बहिर्जगत् से लौटकर अन्तर्जगत में केन्द्रीभूत हो जाती है। चरम तत्व का स्वरूप निर्णय करने के लिए उपनिषदों के ऋषियों ने समाहित होकर यह उपलब्धि की कि इस नाम–रूपात्मक दृश्य प्रपंच के अन्तराल में एक नित्य, शाश्वत, सद् पदार्थ है ज्ञानयोग से उसको जानना चाहिये। वही ''ब्रह्म'' है।

''तद् विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म''

यह ब्रह्म विद्या ही उपनिषद् या वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय है। उपनिषद् कहते हैं कि ''वेदवाद'' स्वर्गसाधक होने पर भी मोक्ष साधक नहीं है। एक मात्र ब्रह्मवाद के आलम्बन से ही नि:श्रेयस की प्राप्ति हो सकती है।

उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्मवाद में भक्ति योग का स्थान नहीं है। जो निर्गुण, निर्विशेष, **'अवाङ्मनसगोचर'** उसके साथ भाव भक्ति को कोई सम्बन्ध स्थापित करना नहीं बनता, वह आत्म बोधरूप है। सगुण ब्रह्म के बिना भक्ति योग मूलक उपासना सम्भव नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म के सगुण–निर्गुण सविशेष–निर्विशेष दोनों प्रकार के विभावों का विवरण दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मस्वरूप के सगुण–सविशेष विभाव के वर्णन के प्रसंग में उपनिषदों में अनेकों स्थलों पर देव, ईश्वर, महेश्वर आदि शब्द व्यवहृत हुए हैं। तथा उसी प्रसंग में ''श्वेताश्वतरोपनिषद्'' शब्द का उल्लेख भी शेताश्वतर–उपनिषद में दृष्ट होता है–

''यस्य देवे परा भक्ति योग:'' (६/२३)

केनोपनिषद में कहा है–

''तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्'' (४/६)

ब्रह्म सम्यक् रूप से भजने योग्य है। इस दृष्टि से उसकी उपासना करनी चाहिये। कठोपनिषद् में कृपावाद का स्पष्ट उल्लेख मिलता है–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैव वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।। (१/२/२३)

'इस आत्मा को शास्त्र की व्याख्या के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, मेधा के द्वारा भी नहीं, अनेक प्रकार के पाण्डित्य के द्वारा भी नहीं। यह जिसको वरण अर्थात् जिस पर कृपा करता है। केवल वही इसको प्राप्त कर सकता है। उसी के सामने यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है।''

भक्ति योग साधना के आश्रय है। प्रेमस्वरूप करुणामय भगवान्। वृहदारण्यक उपनिषद् में परमात्मा के सम्बन्ध में कहा गया है–

''एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पद्।
एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः।।'' (४/३/३२)

''ये ही परम गति, ये ही परम सम्पद्, ये ही परम धाम तथा ये ही परम आनन्द है।'' तैत्तिरीय उपनिषद् में घोषित हुआ है कि–

'रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। (२/७/१)

'वही रस (प्रेम) स्वरूप है। यह जीव रस–स्वरूप को प्राप्त करके सुखी होता है। यदि हृदयाकाश में यह आनन्दस्वरूप न होता तो कौन अपान–चेष्टा करता, कौन प्राण कार्य करता ? अर्थात् कोई विश्वास–प्रश्वास द्वारा प्राण धारण नहीं कर सकता। एक मात्र यही जीव को आनन्द दान करता है।'

अतएव देखा जाता है कि भक्ति योग का जो बीज वेदों के संहिता–भाग में ही निहित है, वही क्रम विकास के पथ में उपनिषद् में आकर अंकुरित और पल्लवित हुआ है। पुराणों में वह किस प्रकार शाखा–प्रशाखा युक्त फूल–फल से समृद्ध महावृक्ष के रूप में परिणत होता है। इस विषय को उद्धत किया जा रहा है।

'पुराण' पञ्चम वेद के नाम से शास्त्रों में कीर्तित हुए हैं। वेदों के निगूढ़ अर्थ को समझने के लिए पुराणों की सहायता लेने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है इसी कारण शास्त्रकारों ने पुराणों के अध्ययन के ऊपर विशेष जोर दिया है। और कहा है कि पुराणों का अनुशीलन किये बिना विद्या कभी पूर्णता को प्राप्त नहीं होती। वायु पुराण में लिखा है–

'यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं स विद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः।।'
इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

'यदि कोई छः वेदांगों एवं समस्त उपनिषदों सहित चारों वेदों से अवगत हो और पुराण शास्त्र में पारदर्शी न हो तो वह विचक्षण नहीं कहला सकता। इतिहास (रामायण–महाभारत) और पुराणों के पाठ के

द्वारा वेद ज्ञान की पूर्ति करनी चाहिये। जो मनुष्य पुराण शास्त्र का पण्डित न होकर वेदों की चर्चा करता है, उसको देखकर वेद मानो भयभीत हो सोचता है कि यह मुझपर प्रहार करेगा।'

दुर्गम वेद–शास्त्र के तात्पर्य को ग्रहण करके उसी के आदर्श पर जीवन का गठन करना जन साधारण के लिए सम्भव नहीं। **'स्त्रीशुद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।'** 'स्त्री, शूद्र और वर्णाधम लोगों का वेद श्रवण में अधिकार नहीं है।' इसी कारण महर्षि कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास जी ने जनता के कल्याण–साधन के लिए वेद में निहित आध्यात्मिक निगूढ़ तत्व राशि को पुराणों में विस्तृत रूप से नाना प्रकार के आख्योन–उपाख्यानों की सहायता से प्रकाशित किया है। पद्मपुराण में यही बात कही गयी है–

'वेदाच्य उद्धत्य समस्त धर्मान्, योऽयं पुराणेषु जगाद देव:।
व्यासस्वरुपेण जगद्धिताय, वन्दे तमेनं कमलासमेतम्।।

(पद्म पुराण क्रिया योग सार १/३)

'जिन्होंने व्यास रूप में वेदों से समस्त धर्मों को उद्धृत करके जगत के कल्याण के निमित्त निखिल पुराणों में परिव्यक्त किया है, कमला सहित उस नारायण की हम वन्दना करते हैं।

पुराण में भक्तियोग की महिमा भारतीय आध्यात्मिक साधन के क्षेत्र में कर्म, ज्ञान और भक्ति मुक्ति के त्रिविध साधन के रूप में स्वीकृत होते चले आ रहे हैं। साधक गण अपनी–अपनी रुचि और अधिकार के भेद से इनमें से किसी एक या इनकी समन्वित साधना का अवलम्बन करके निःश्रेयस के पथ पर अग्रसर होते हैं। पुराण शास्त्र में कर्मयोग, ज्ञानयोग, और भक्तियोग इन तीनों विषयों की शिक्षा होने पर भी भक्ति योग के उपर विशेष जोर दिया गया है। क्योंकि यह मनुष्य के लिए तत्काल कल्याण कारक है। तथा भक्ति योग मार्ग का अनुसरण ब्राह्मण, शूद्र, नर–नारी सभी निर्विशेष रूप से सहज ही कर सकते हैं।

मार्गास्त्रियो मे विख्याता मोक्षप्राप्तो नगाधिप।
कर्मयोगो ज्ञानयोगो भक्तियोगश्च सत्तम्।।
त्रयाणाम्प्ययं योग्य: कर्तुं शक्योऽस्ति सर्वथा।
सुलभत्वान्मानसत्वात् कायचित्ताद्यपीडनात्।।

(श्रीमद्देवी भागवत् ७/३७/२–३)

देवी भगवती कहती है कि हे नगेन्द्र ! मोक्ष प्राप्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग ये तीनों ही मार्ग विख्यात हैं। इन तीनों प्रकार के योगों में भक्तियोग ही अनायास प्राप्त होने वाला है। क्योंकि यह योग काय चित्त आदि को पीड़ा दिये बिना ही केवल मनोवृत्ति के द्वारा सम्पादित हो सकता है। अत: इस योग को ही सुलभ जानना चाहिये। श्री मद्भागवद् में भगवान श्री कृष्ण ने परम भागवत उद्धव जी को उपदेश देते हुए कहा है कि–

यत् कर्मभिर्यत् तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दान धर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।
सर्व मद्भक्ति योगेनमद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।। (११/२०/३२)

'कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म तथा तीर्थ यात्रा, व्रत आदि अन्य साधनों के द्वारा जो प्राप्त होता है, मेरा भक्त भक्तियोग के द्वारा वह सब प्राप्त कर लेता है।

पुराण–शास्त्र ने भक्तिमार्ग को सबके लिए खोलकर पूर्ण गणतान्त्रिक धर्म का प्रचार किया है। पुराणों में पुनः–पुनः घोषित किया गया है कि ईश्वर के प्रति एकान्तिक भक्ति के द्वारा चाण्डाल भी ब्राह्मण से बढ़कर हो सकता है और ईश्वर भक्तिविहीन होने पर ब्राह्मण भी चाण्डालसम हो सकता है।

'चाण्डालोऽपिमुनिश्रेष्ठ विष्णु भक्तो द्विजाधिकः।
विष्णु भक्ति विहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधिकः॥''

(वृहन्नारदीयपुराण ३२/३९)

श्री मद्‌भागवत् उच्च स्वर से घोषित करता है–

अहोबत् श्वपचोऽतो गरीयान्, यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या, ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥ (३/३३/७)

'जिनके जिह्वाग्र पर तुम्हारा नाम रहता है, वे चाण्डाल होने पर भी श्रेष्ठ हो जाते हैं। जो तुम्हारा नाम लेते हैं, उन्होंने यथार्थ तपस्या कर ली, अग्नि में यथार्थ हवन कर लिया। उन्होंने तीर्थ में स्नान कर लिया, वे ही आर्य (सदाचारी) हैं, उन्होंने ही यथार्थतः वेदाध्ययन किया है।

श्री मद्‌भागवत् में भगवान स्वयं उच्चारित करते हैं–

प्रतिष्ठया सार्वभौम सद्मना भुवनत्रयम्।
पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्यताभियात्॥
मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति।
भक्ति योगं स लभते एवं यः पूजयेत माम्॥

(श्रीमद्‌भागवत् ११/२७/५२/५३)

मेरा भक्त सार्वभौम पद विग्रह प्रतिष्ठा के द्वारा, मन्दिर निर्माण के द्वारा त्रिभुवन का स्वामित्व, पूजा आदि के द्वारा ब्रह्मलोक तथा उपर्युक्त तीनों कार्यों के द्वारा मेरी समता प्राप्त कर सकता है और निष्काम भक्ति योग के द्वारा मुझको ही प्राप्त करता है। जो उपर्युक्त रीति से मेरी पूजा करता है वह भक्तियोग को प्राप्त करता है ब्रह्म के साक्षात अवतार श्री सद्‌गुरुदेव हैं, ब्रह्म सद्‌गुरु में कोई अन्तर नहीं है इसलिए श्री सद्‌गुरुदेव द्वारा प्रदत्त भक्ति योग साधना का पालन करते हुए सद्‌गुरुदेव के पावन चरणों में अपने जीवन को धन्य बना लेना चाहिये। गुरुदेव द्वारा प्रदत्त भक्ति योग का समर्थन पुराण भी करता है। इसलिए भक्तियोग आवश्यक है॥ अस्तु॥

***

यही हैं, यहीं हैं

केशवदेव उपाध्याय (वाराणसी)

क्या आप जानते हैं कि शीर्षस्थ उपरोक्त शब्दों का प्रयोग किसने किसके लिए किया था ? उपरोक्त शब्द है हमारे, आपके तथा प्राणीमात्र के भाग्य विधाता उपकारण दयालु परम योग योगेश्वर हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के, जिन्हें उन्होंने अपने एक शिष्य श्री शिवनाथ से कहा था।

सर्व शक्ति सम्पन्न हमारे दादा गुरुदेव का सम्पूर्ण जीवन ही अलौकिक घटनाओं से ओत प्रोत है। उनकी दीक्षा की विधि भी निराली ही थी। उन्होंने चलते–फिरते न जाने कितने प्राणियों को दीक्षा देकर योग मार्ग में लगाया एवं उन्हें यौगिक विभूतियों से परिपूर्ण किया। अपने कल्याणकारी भ्रमणकाल में ही श्री महाप्रभु जी ने एक साधक श्री शिवनाथ को नासिक में योग दीक्षा प्रदान की। इस समय श्री महाप्रभु जी ने कुछ दिन नासिक में ही प्रवास करने का विचार किया। इस अल्पकालीन प्रवास काल में दीक्षित साधक ने उनकी अत्यधिक सेवा की। जब महाप्रभु ने अपने अन्यत्र जाने का विचार अपने उस शिष्य को बताया तो वह फूट–फूट कर रोने लगा। श्री महाप्रभु जी ने उसे बहुत धीरज बंधाया और कहा कि बेटा ! हम बारह साल बाद तुमसे किसी तीर्थ स्थान में अवश्य ही मिलेंगे। इस प्रकार अपने शिष्य को अनेक प्रकार से समझाकर श्री महाप्रभु जी अपने कल्याणकारी भ्रमण के लिए आगे चल पड़े। अपनी प्रिय वस्तु खो जाने पर जिस प्रकार प्राणी मात्र उदास हो जाता है उसी प्रकार उदास मन से शिष्य ने अपने प्रभु को विदा तो कर दिया पर नासिक में अपनी योग साधना जारी रखी।

ग्यारह साल तक साधनामय जीवन व्यतीत करने के बाद बारहवें साल के आरम्भ में ही शिष्य ने अपने प्राण प्यारे की खोज करने के लिए तीर्थयात्रा आरम्भ की। उन्हीं दयामय की कृपा से वह ऋषिकेश नगर में पहुँच गया। ऋषिकेश शहर के प्रत्येक मंदिर तथा धार्मिक स्थलों का दर्शन लाभ लेता हुआ वह अपने पवित्रमय योग साधना आश्रम ऋषिकेश पहुँच गया। जिस समय उसने आश्रम में प्रवेश किया दादा गुरुदेव अपने पण्डित वेश में आराम कुर्सी पर विराजमान थे तथा उनसे कुछ दूरी पर दीवाल के सहारे उन्हीं का ब्रह्मचारी वेश का स्वरूप टंगा हुआ था। कुछ साधक समुदाय भी भगवान शिव के गणों की भांति इर्द–गिर्द उपस्थित था। जो अपने आराध्य के मुखारबिन्दु का अवलोकन कर रहा था। नासिक वाला ब्रह्मचारी भी इस समुदाय में उपस्थित था, बिना किसी उचित अभिवादन के दीवाल पर स्थित स्वरूप को उसने प्रणाम किया तथा उसी स्वरूप को इंगित करते हुए उसने कुर्सी पर विराजमान श्री महाप्रभु जी से प्रश्न किया कि यह स्वरूप तो हमारे सर्व समर्थ गुरूदेव भगवान का है। तुम्हें कहाँ से मिला है।

आनन्द कन्द श्री प्रभु जी ने उसकी तरफ देखकर सहज मुस्कान से उत्तर दिया यह तो हमारा ही फोटो

है। श्री महाप्रभु जी की सत्य बात को असत्य समझते हुए उसने कहा कि, अरे पण्डित जी ठिठोली न कीजिए। आप यह बतलाइये कि आप को यह स्वरूप कहाँ से मिला ? श्री महाप्रभु जी ने फिर अपना वही उत्तर दुहराया और कहा कि यह तो हमारा ही फोटो है। बात यहाँ यह थी कि श्री महाप्रभु जी तो सत्य बात ही उसे बता रहे थे परन्तु उस साधक को जिसने अपनी यौगिक विभूतियों का कुछ अनुभव भी किया था वेश भेद (ब्रह्मचारी वेश और पण्डित वेश) के कारण उन श्री महाप्रभु जी की बातें उसे असत्य प्रतीत हो रहीं थीं। अपने प्रश्न का दूसरी बार भी वही उत्तर सुनकर उस साधक की श्रद्धा को ठेस लगी और उसने क्रोधावेश में कहना आरम्भ किया, "तुम्हें शर्म नहीं आती, पण्डित होकर असत्य बोल रहे हो, हमारे सर्व समर्थ एवं सर्वशक्तिमान गुरूदेव के स्वरूप को एक तो तुम फोटो कह रहे हो और दूसरी बात यह कि तुम यह कह रहे हो कि यह तुम्हारा ही है। मजाक छोड़कर पण्डित जी यह बतलाइये कि यह स्वरूप आप को कहाँ से मिला है ? कहीं से चोरी तो नहीं कर लाये हो"। लीलाधारी की लीलाओं का अन्त कहाँ। शायद ऐसा लगता है कि उन्होंने आज अपने ही शिष्य से अपशब्द सुनने का संकल्प कर लिया हो।

शिष्य ने एक बार फिर प्रश्न किया कि पण्डित जी बिल्कुल सही बात बतलाइये कि यह स्वरूप आप को कहाँ से मिला है ? श्री महाप्रभु जी ने उसके प्रश्न का उत्तर नपे तुले शब्दों में देते हुए अपनी मधुर मुस्कान के द्वारा उससे फिर कहा कि मैं बिल्कुल सत्य बतला रहा हूँ, यह हमारा ही फोटो है। अब की बार महाप्रभु जी के मुख से यह उत्तर सुनकर उसका शरीर क्रोध से तिलमिला उठा और बोला, लगता है तुमने झूठ बोलने का ठेका ले रखा है। मेरे बार–बार आग्रह करने पर भी तुम सत्य बात नहीं बतला रहे हो। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे सर्व समर्थ गुरुदेव का स्वरूप तुमने कहीं से चुरा लिया है, इसी के सहारे तुम्हारी रोजी–रोटी चलती है। अतः तुम सत्य बात को छिपाकर बार–बार यही कह रहे हो कि यह तुम्हारा ही फोटो है। कहाँ सर्व शक्तिमान परम योग योगेश्वर हमारे गुरूदेव जी महाराज और कहाँ पण्डित वेशधारी एक साधारण मनुष्य तुम।

प्रभु की क्या माया है, उनका ही बच्चा वेश भेद के कारण उन्हें बार–बार अशोभनीय शब्दों के द्वारा सम्बोधित कर रहा है और वे सर्व समर्थ प्रभु अपने सहज स्वरूप में आराम कुर्सी पर बैठे मुस्कुरा रहे हैं। यह उन मायापति की माया ही कही जायेगी जो कि शिष्य के मन में यह बात बिल्कुल ही न समा रही थी कि उसके सर्व समर्थ गुरूदेव ने ठीक बारह साल बाद उसे किसी तीर्थ स्थान में दर्शन देने का वचन दिया था। आज ठीक बारह साल बाद वे अपने शिष्य को दिये गये वचन को पूरा कर रहे हैं।

शिष्य का मन भ्रमित था तथा इस तथ्य को समझ नहीं पा रहा था कि यह पण्डित जी ही उसके सर्व समर्थ गुरूदेव हैं। उस समय ऋषिकेश आश्रम में उपस्थित उनके बच्चों को इस नये आगन्तुक की अशिष्ट बातें बिल्कुल ही खराब लग रही थीं, क्योंकि श्री महाप्रभु जी के लिए बार–बार अशोभनीय शब्दों का प्रयोग कर रहा था। उनमें से कुछ के धैर्य ने सहन की सीमा पार कर ली और वे लोग अपने प्रभु के प्रति प्रयोग किये गये शब्दों के लिए नवागन्तुक से मारपीट करने पर उतारू हो गये परन्तु लीलाधारी प्रभु ने उन्हें इशारे

से शान्त किया। श्री महाप्रभु जी बार–बार अपने नासिक में दीक्षित बच्चे से यही कहते थे कि यह फोटो हमारा है और उनका वह बच्चा उनके इस उत्तर पर उन्हें बार–बार अपने दुराग्रहवश अशोभनीय शब्दों का प्रयोग करता रहा। अन्त में अपने शिष्य की व्याकुलता तथा अपने गुरूदेव के प्रति अपने शिष्य की आन्तरित श्रद्धा देखकर दयानिधान ने योग लीला का प्रदर्शन किया। अपनी बात की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए उन्होंने उसे देखते ही देखते अपने को ब्रह्मचारी वाले वेश में बदल लिया तथा फिर एक क्षण बाद ही पुनः पण्डित वेश में बदल लियां यह सब दृश्य उसकी आँखों के सामने ही घटित हुआ और उसे लगा कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ। वह घबरा सा गया। उसे यह भान नहीं हो पा रहा था कि मैं जो देख रहा हूँ वह सत्य है या स्वप्न है। अन्त में उसने कहा कि महात्मन् मैं समझ नही पा रहा हूँ, आप कह रहे हैं कि यह फोटो आपका है और मैं यह स्पष्ट देख रहा हूँ कि यह स्वरूप हमारे योगेश्वर गुरूदेव जी का है जिन्होंने हमें नासिक में योग दीक्षा दी थी।

दयानिधान श्री महाप्रभु जी ने अपनी योग माया को खींचते हुए उससे कहा कि दीक्षा के बाद तुम्हारे गुरूदेव ने तुमसे क्या कहा था ? साधक ने पूरी बात बतलाते हुए कहा कि उन्होंने गुरूमन्त्र जप करने तथा ध्यान लगाने का आदेश दिया था। उसने निवेदन किया कि आते समय मेरी व्याकुलता को देखकर उन्होंने मुझे धीरज बंधाया तथा आदेश दिया था कि बारह साल बाद वे फिर मिलेंगे।

उसकी पूरी बात सुनकर महाप्रभु जी ने उससे कहा कि तुम ध्यान लगाते हो, उसने कहा कि हाँ, इसके बाद उन्होंने आदेश दिया कि ध्यान लगाकर इस समस्या का समाधान निकाल लो कि मेरी बात सत्य है या तुम्हारी बात सत्य है। श्री महाप्रभु जी के आदेशानुसार वह वहीं तत्काल ध्यान में बैठ गया। ज्योंहि उस के मन की एकाग्रता बनी उसे स्पष्ट आकाशवाणी सुनायी दी।

शिष्य के आनन्द की सीमा का क्या पूछना ? तत्काल ध्यान से उठकर प्रभु के चरणों में दण्डवत गिर गया। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। वह साधक फूट–फूट कर रोने लगा। प्रभु भी मन ही मन प्रसन्न हो रहे थे। परन्तु प्रभु ने अपनी माया से एक बार पुनः उसे भ्रम में डालते हुए कहा, ये क्या कर रहे हो, तुमने ध्यान में क्या देखा। उसने कहा कि मैं समझ गया। उन्होंने कहा कि क्या समझे हमें भी तो बतलाओ। उसने बतलाया कि आकाशवाणी हुयी कि आप ही हमारे सर्व समर्थ गुरूदेव हैं। उस ने फिर साष्टांग प्रणाम किया। श्री महाप्रभु जी ने कहा कि तुम्हें आकाशवाणी में क्या शब्द सुनायी दी है कि 'यही है, बारह साल बाद मिले है, फिर नहीं मिलेंगे।'

प्रभु ने थोड़ा भाव बनाकर कहा कि यही तो तुम नहीं समझ सके। कहाँ तुम्हारे सर्व समर्थ ब्रह्मचारी वेशधारी योगिराज गुरूदेव और कहाँ साधारण आश्रम का पण्डित वेशधारी मैं। मुझे लगता है कि तुम्हारे गुरूदेव ने जो बारह साल बाद तुम्हें दर्शन देने का वचन दिया था, वह समय अब करीब आ गया है और उनकी ही आकाशवाणी तुम्हें सुनायी दी है परन्तु तुम भूल रहे हो आकाशवाणी यह हुयी होगी कि, ''यहीं है, बारह साल बाद मिले है, फिर नहीं मिलेंगे।'' श्री महाप्रभु ने उसकी आकाशवाणी का शब्द ही उससे कहा,

केवल मात्र यही को यहीं' में बदलकर कहा। फिर इसके बाद उसे आकाशवाणी का अर्थ समझाते हुए बोले, आकाशवाणी का अर्थ है, यहीं है, यहीं का मतलब ऋषिकेश, समझे। तुम्हारे गुरुदेव इस समय ऋषिकेश में ही हैं, उन्होंने आगे समझाया कि बारह साल हो गये है, जल्दी मिल लो फिर नही मिलेंगे।

प्रभु की योग माया के समक्ष बेचारे का वश ही क्या था। उसने तत्काल श्री प्रभु जी को प्रणाम किया एवं अनन्य गुरुभक्ति तथा श्रद्धा से परिपूर्ण होकर व्यग्र मन से अपने ब्रह्मचारी वेशधारी सर्व समर्थ गुरुदेव की तलाश में ऋषिकेश की सड़कों पर निकल गया। फिर प्रभु जाने उसका क्या हुआ ? क्या होगा ! उसने अपने गुरुदेव की कृपा से ध्यान की विधि तो जान ही ली थी, स्थूल से न सही, ध्यान में तो अपने गुरुदेव के दर्शन का लाभ तो उसे बराबर मिलता ही रहा होगा। श्री महाप्रभु की यह घटना जब–जब याद आती है, यह पंक्तियाँ मन अनायास ही गुनगुनाते लगता है–

''सारे जग को वही नचाते, तुमको वही नचायेंगे।
वैसे ही नाचोगे लाल, जैसे प्रभु नचायेंगे।।''

***

आत्मा नित्य चेतन स्वरूप है और जो चेतन है वही आनन्द है। हमें चेतना तो प्रतीत होती है, किन्तु आनन्द प्रतीत नहीं होता क्योंकि उस चेतन आत्मा का स्वरूप आच्छादित हो रहा है यदि अज्ञान का आच्छादन हट जाय तो आनन्द प्रतीत होने लगेगा। आत्मा परमात्मा का ही अंश है। परमात्मा आनन्दघन है। इसीलिए उसे सत् चित् आनन्द कहते हैं। सत् माने परमात्मा, चेतन माने ज्ञान स्वरूप बोध स्वरूप। परमात्मा के सिवा संसार में कोई वस्तु है ही नहीं। संसार का बिल्कुल अभाव करके संकल्प रहित होकर उस निर्गुण-निराकार परमात्मा का ध्यान करें।

सद्गुरुदेव की दृष्टि में 'योग की महत्ता क्यों ?

जय नारायण (लखनऊ)

'सिद्धयोग, के संस्थापक योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज का प्रयास सदैव यही रहता था कि इस पत्रिका में योगपरक विषयों का समायोजन अधिक से अधिक हो। सद्गुरुदेव जी के लीलावसान के पश्चात् उनके द्वारा रचित योग की पुस्तकें एवं स्थान–स्थान पर दिये गये प्रवचनों का इतना विशाल भण्डार है कि यदि इसी में से समय–समय पर कुछ न कुछ सामग्री का उपयोग पत्रिका में किया जाता रहे तो लोगों का कल्याण और मार्ग–दर्शन होता रहेगा।

सद्गुरुदेव जी अपने लेखों, प्रवचनों एवं ग्रन्थों में सदैव योग सम्बन्धी विषयों को गीता, उपनिषद्, पतंजलि योग दर्शन एवं इसके व्यासकृत भाष्य आदि शास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर सोदाहरण प्रस्तुत करते थे जिससे योग के कठिनतम विषय का बोधगम्य हो जाता था।

योग का महत्व श्रीमद्भगवद्गीता के इसी श्लोक से स्पष्ट हो जाता है–

'तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिक:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।' (६/४६)

अर्थात् हे अर्जुन ! योगी का दर्जा तपस्वियों, कर्मकाण्डियों से ऊँचा है। योगी ज्ञानियों से श्रेष्ठ होता है और कर्मकाण्डियों से भी योगी श्रेष्ठ है। इसलिये तुम योगी बनो आगे भी भगवान श्री कृष्ण आदेश करते है कि–

'वेदेषु यज्ञेषु तप:सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्'।। (८/२८)

अर्थात् वेद में, यज्ञ में, तप में और दान में जो पुण्य फल कहा गया है योगी उन सबको लांघ करके आदि परम स्थान को पा लेता है। भगवान श्री कृष्ण ने इसकी महत्ता पर एक बात फिर कह दी–

संन्यासस्तु महाबाहो दु:खमाप्तुमयोगत:।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। (५/६)

अर्थात् योग के बिना संन्यास अर्थात् सभी कामनाओं के त्याग को प्राप्त होना कठिन है। किन्तु योग युक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्मत्व को पा जाता है।

योगी की महिमा को भगवान श्री कृष्ण के मुख से सुनकर अर्जुन ने यह जिज्ञासा की कि जो योग साधक योग में श्रद्धा रखता है और योग के मार्ग पर चल रहा है किन्तु किसी कारण वश योग से विचलित हो जाता है या योग में बढ़ नहीं पाता है, तो वह किस गति को प्राप्त होता है। भगवान ने इसका उत्तर देते हुये अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! ऐसा व्यक्ति न तो इस लोक में नष्ट होता है और न ही परलोक में नष्ट होता है। शरीर छोड़ने के बाद वह पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त होता है। वहाँ पर बहुत दिनों तक वास करने के पश्चात् धनवानों या योगियों के ही घर में जन्म होता है। पूर्व जन्म के संस्कारों के बल पर वह व्यक्ति योगाभ्यास में लग जाता है। योगाभ्यासी कर्मकाण्डियों के दायरे से बहुत आगे निकल जाता है। हजारों अनुष्ठान, दान–पुण्य करने के पश्चात कर्मकाण्डी स्वर्ग का अधिकारी होता है। किन्तु योग साधक योगाभ्यास के बल पर मुक्ति के चरम लक्ष्य को पा जाता है। भगवान् श्री कृष्ण ने योग के महत्व को परमोच्च स्थान

देते हुये यहाँ तक कहा कि योग को पाकर के ही मनुष्य सब प्रकार से धनी होता है। **यंलब्ध्वा चापरं लाभंमन्यते नाधिकंततः।**

मनुष्य–योनि में ही पुरुषार्थ सब बुद्धि के उपभोग का अवसर प्राप्त होता है। देवयोनि में बिना पुरुषार्थ के सभी सुखों एवं सुविधाओं का लाभ मिलता है। देवता अपने संकल्प से दूर–दूर के बातों को सुनने, सूंघने, रस ग्रहण आदि की शक्ति स्वतः प्राप्त कर लेते हैं। वहीं योग–साधक अपने पुरुषार्थ से धारणा–ध्यान व समाधि के पराकाष्ठा पर पहुँच कर अर्थात् संयम के बल से संकल्प शक्ति पा लेता है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति आ जाने पर योगी को स्वतः वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान, दूर–दूर की बातों को सुनने, दूर के वस्तु को छू लेने, दिव्य रूपों को देखने, दिव्य रसों के ग्रहण करने आदि की शक्ति मिल जाती है। (ततः प्रातिभश्रावण वेदनादर्श स्वादवार्ता जायन्ते।)

योग का महत्व महाभारत, श्रीमद्भगवद्गीता एवं महाभागवत पुराण के प्रत्येक स्थल पर देखा जा सकता है कि श्री कृष्ण चन्द्र भगवान को योग योगेश्वर या योगेश्वर का सम्बोधन सर्वत्र दृष्टिगत होता है कहीं भी श्री कृष्ण चन्द्र भगवान को ज्ञान योग या भक्तियोग के महत्व को स्पष्ट करते समय ज्ञानेश्वर भक्तेश्वर नाम से नहीं पुकारा गया। अर्जुन ने गीतोपदेश काल में किसी भी शंका–समाधान के समय सर्वदा योगेश्वर या योग योगेश्वर कृष्ण का ही सम्बोधन किया। इसी कारण गीता का प्रत्येक श्लोक योग के महत्व से ही परिलक्षित है।

जब द्रोपदी का चीर खींचा जा रहा था तब द्रोपदी ने भगवान कृष्ण को पुकारते हुये कहा– 'कृष्ण कृष्ण महायोगिन कृष्ण गोपीजन प्रिय हे' अर्थात् गोपीजन प्रिय महायोगी कृष्ण ! आप कौरवों के समुद्र में पड़ी हुई मुझे क्यों नहीं देख रहे हो।

भगवान कृष्ण ने योग के महत्व को गीता में स्पष्ट किया है और आज्ञा दी है **''जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द ब्रह्मातिवर्तते''** अर्थात् योग का जिज्ञासु भी कर्मकाण्ड के दायरे से आगे निकल जाता है। मनुष्य के मन में इतनी ही भावना आ जाये कि मैं योगीवान् तो वह कर्मकाण्ड के दायरे से आगे बढ़ जाता है और यदि थोड़ा बहुत योग मार्ग में प्रवेश कर गया अनुभूतियाँ जारी हो जायं तो वह महापुण्य भाजन बन जाता है।

त्रिलोकपावन अखिलात्मा भगवान् श्री कृष्ण चन्द्र ने गीता में योग की महिमा को खोल–खोल कर बताया है। कर्म योग एवं कर्म संन्यास के रहस्य को अर्जुन समझना चाहता है। अर्जुन भगवान् से कहते हैं कि आपने कर्म सन्यास की बात कही और फिर योग की प्रशंसा करते हैं। भगवान् ने इसके उत्तर में कहा है–

'संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्म संन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते।।' (५/२)

भगवान का आदेश है कर्म–संन्यास से कर्म योग का दर्जा श्रेष्ठ है। कामनाओं का परित्याग करना संन्यास कहलाता है। यह बिना योग के नहीं हो सकता।

इस प्रकार योग महत्व को श्री कृष्ण भगवान अपने मुखार बिन्द से स्पष्ट करते हुये आदेश देते हैं कि प्रत्येक योग–साधक श्रद्धान्वित होकर राग–द्वेष एवं अभिमान आदि दुर्गुणों का परित्याग कर अष्टांग योग (यम–नियम–आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा–ध्यान–समाधि) का अवलम्बन करते हुये गुरुतत्व परब्रह्म में सतत अपने को लगाये रखेगा, तो उसका अवश्यमेव कल्याण होना निश्चित है। यही है ''योग–महिमा''

***

अबोध बालिका की रक्षा

अंशुमान देव मालवीय

लभली नाम की डेढ़ बरस की अबोध बच्ची की रक्षा गुरूदेव भगवान की कृपा से कैसे हुई, यह समझना और समझाना ही इस लेख का विषय है। लभली के दादा श्री सुरेन्द्र सिंह C-14/160 मोहल्ला सोनिया जिला वाराणसी के अपने मकान में निवास करते हैं। श्री सुरेन्द्र सिंह जी अपनी पत्नी के साथ दीक्षित हैं। परन्तु संयोग ऐसा बना की यह अपने पुत्र और पुत्रवधु को गुरू देव भगवान से दीक्षा नहीं दिलवा पाये। यह छोटी बच्ची अपने ननिहाल बाबतपुर के पास पिण्डरा बाजार गई हुई थी। अभी उसको गये हुये कुछ ही दिन हुये होंगे कि एक दर्दनाक दुर्घटना हुई।

निनानबे मार्च की २९ तारीख को बच्ची अपनी नानी के करीब बैठ कर खेल रही थी। उसी के करीब उसके नानाजी भी चारपाई पर बैठे थे और कुछ और बच्चे आस–पास खेल रहे थे, करीब आठ बजे सभी बच्चे जो दूसरे घरों से खेलने आये थे, जब अपने घरों को चले गये और बच्ची के नाना–नानी भी अपने घरेलू काम में व्यस्त हो गये तो इस अबोध बच्ची ने किरोसिन तेल की डेबरी (लैम्प) को खिलवाड़ समझकर उठाया और उठाते ही डेबरी का तेल उसके शरीर पर गिर पड़ा और आग पकड़ ली।

बच्ची ने जोर–जोर से रोना आरम्भ किया। तो सर्व प्रथम उसकी नानी उसके पास गयी और आग को बुझाने का प्रयास किया, परन्तु उन्हें इस कार्य में सफलता नहीं मिल पायी और वह भी काफी जल गयी इनकी अवस्था ५० वर्ष की रही। इतने में लभली के नाना श्री लक्ष्मीसिंह मास्टर पहुँच गये, और किसी प्रकार उन्होंने आग को शान्त करने में सफलता प्राप्त की। इन लोगों (लभली और उसकी नानी) को दिखाने के लिए जब डॉक्टर को बुलाया गया तो उसने गहन परीक्षण के बाद बतलाया कि यह ईश्वर की महान कृपा है कि इस अबोध बच्ची पर आग से जलने का कोई निशान नहीं है। उसके बायें कन्धे के नीचे जलने की तरह थोड़ा सा फफोला निकला था।

आग लगने के बाद लभली के नाना के द्वारा, उसके शरीर से जलते हुये कपड़े को फाड़–फाड़ कर बाहर फेंका गया परन्तु लभली के शरीर पर मात्र एक जगह छोड़कर और कहीं जलने का निशान नहीं था। ध्यान से देखने पर यह दिखायी दिया कि इस अबोध बच्ची के ऊपर होती हुई कृपा के दाता श्री गुरुदेव भगवान के स्वरूप के लाकेट जिसे धागे से बांधकर जिसने अपनी गर्दन में पहन रक्खा था। धागा जलकर स्वरूप जब गिर गया तो आग अपने आप शान्त हो गयी।

बच्ची की नानी जिनकी उम्र ५० वर्ष के आस–पास बतायी गयी है डॉक्टर के परामर्श के अनुसार अस्पताल में भर्ती की गयी जहाँ कुछ दिन जीवित रहने के बाद उनका शरीर छूट गया। यह आश्चर्य ही कहा जायेगा कि आग ने जिसको पकड़ा था वह बच्ची बिल्कुल स्वस्थ हो गयी और बचाने वाली उसकी नानी स्वर्ग सिधार गई। इस प्रकार हमारे आराध्य देव अकारण दयालु श्री सद्गुरु जी महाराज सदैव अपने शिष्यों की रक्षा करते ही रहते हैं।

''जहाँ इष्ट होते हैं वहाँ अनिष्ट नहीं होते हैं''।

अतः हम सभी गुरु भाईयों को एकमात्र सहायक श्री सद्गुरु भगवान् का आरती पूजन एवम् कृपा चरित्र वर्णन सदैव करते रहना चाहिये। श्री सिद्धयोग के सुयोग्य पाठकों से मेरा नम्र निवेदन है कि लेख की त्रुटियों को क्षमा प्रदान करते हुये इसके पवित्र भावों को ग्रहण करने की कृपा करें।

***

कर्म का मर्म

आर.सी.ठाकुर (कानपुर)

मनुष्य बन्धन में क्यों फंसता है ? केवल कर्मों के विषय में यथार्थ ज्ञान न होने के कारण। यथार्थ ज्ञान के लिए सद्गुरु, सत्संग, स्वाध्याय तथा योग सिद्धान्तो का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य अपने जीवन सम्बन्धित ही नहीं बल्कि पूरे विश्व की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान श्रीमद्भगवद्गीता से प्राप्त कर सकता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी यह कह कर "Geeta is the solution to every problem of life." इसकी पुष्टि की है। अर्जुन को माध्यम बनाकर जगदात्मा की कृष्ण ने संदेह एवं भ्रम जाल में फंसे हुये अर्जुन को किसी मन्दिर अथवा उपवन में नहीं वरन् कर्मभूमि अर्थात् युद्ध स्थल में कर्मों के मर्मों को समझा कर संसार सागर से उबारा तथा मनुष्य मात्र के लिये भी मार्ग प्रशस्त किया। आध्यात्मिक मार्ग बड़ा जटिल होने के कारण कर्म के रहस्य को जानना भी जटिल ही है। बुद्धिजीवी लोग इसको समझने के लिए विभिन्न युक्तियां बताते है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इसको समझने में धोखा खा जाते हैं।

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्"। (३/५)

के अनुसार तो निः सन्देह कोई मनुष्य किसी भी काम में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता परन्तु यह कर्म बिना उचित ज्ञान के बन्धन मुक्त भी हो सकते है और बन्धन युक्त भी। स्वयं भगवान श्री कृष्ण ने अध्याय ४/१९ मे "गहना कर्मणो गतिः" कह कर कर्मों की गहन गति बताई है। क्योंकि कर्म शुभ अशुभ, भले–बुरे, पवित्र–अपवित्र पुण्य–पाप सभी प्रकार के होते हैं। इनकी पहचान का मापदण्ड क्या है ?

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। (१६/२४)

अर्थात् तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। साधारणतया अपनी जीविका चलाने के लिए.........मानव जो भी कार्य करता है उसे ही कर्म समझता है। इतना कार्य पालन–पोषण, जनन–प्रजनन का तो पशु पक्षी कीट पतंग आदि भी करते है, ये सब तो योग योनियां है और शास्त्र की व्यवस्था इनके लिये तो नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति तो कर्म अकर्म (नैष्कर्म) विकर्म तथा कर्म सन्यास का निश्चय करने में गड़बड़ा जाते है। इसलिये उचित यह है कि इस पथ पर जो श्री कृष्ण ही इसका निराकरण कैसे करते है देखिये–

किं कर्म किम कर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥

अर्थात् कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? इस विषय में बुद्धिमान पुरुष भी मोहित हो जाते हैं। (अर्थात् कर्म अकर्म निर्णय करने में भ्रम हो जाता है। इसलिये मैं तेरे प्रति कर्म का तत्व अच्छी प्रकार से कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ (अर्थात् संसार बन्धन रूपी दोष) कर्मों से छूट जायेगा इसलिए तुझे तो जो जानने की आवश्कयता है वह यह है–

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

कर्मों का स्वरूप जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए क्यों कि कर्मों की गति गहन है इसलिये कर्म, अकर्म, विकर्म तथा कर्म सन्यास के रहस्य को जानना आवश्यक है।

कर्म :—जिस परिवर्तन रूप क्रिया में कम से कम तीन तत्व कामना, ममता तथा तादात्म्य (सम्बन्ध) विद्यमान रहते हैं उसे कर्म कहते हैं। कर्म का यथार्थ अर्थ शारीरिक रूप से किया गया कार्य है। परन्तु इतना समझ लेना काफी नहीं है। जिस कार्य को करने में ईश्वर भक्ति हो या न हो परन्तु जिसमें व्यक्ति श्रुति स्मृति प्रतिपादित विधिवत् हो वह कर्म है। कर्म का फल स्वर्ग होने पर भी बन्धन मुक्त नहीं है।

अकर्म :—जिस क्रिया में फलजनकता नहीं रहती तथा तादात्म्य (सम्बन्ध) टूट जाता है उसे अकर्म कहते हैं। कर्म में अकर्म भी इसी को कहते हैं, जो कर्तापन से रहित है और हितार्थ होते रहते हैं। उनका उन कर्मों में तादात्म्य नहीं रहता। ये समस्त कर्म दिव्य है और कर्ता उनमें लिप्त नहीं रहते। मन वाणी तथा शरीर से हो जाने वाली क्रियाओं का स्वरूप त्याग देना ही अकर्म नहीं कहलाता परन्तु जो विशेष बात है वह भाव की है। वस्तुतः कर्म करते हुए कर्म में कर्तापन का अभाव ही अकर्म है। परन्तु निठल्ले बैठे रहना अकर्म नहीं है, यह तामसिक कर्म है क्यों कि निठल्लापन आलस की देन है और आलसीपन हो तो इसे अकर्म कहेंगे और कर्म योग का जनक भी यही है। भगवान श्री कृष्ण ने ये सब दिव्य कर्म अकर्म हैं बतलाया है अकर्म का फल बन्धन मुक्त है।

विकर्म :—सभी शास्त्र विरुद्ध पाप कर्म विकर्म कहलाते हैं। साधारण रूप में झूठ, कपट, चोरी, व्याभिचारी हिंसा आदि सब विकर्म हैं। वर्णाश्रम के अनुसार निश्चित एक वर्ण का कर्म दूसरे वर्ण के लिये विकर्म हैं। विकर्म का फल बन्धन मुक्त है।

कर्म संन्यास :—कर्म संन्यास उसे कहते है जिसमें 'ईश्वर भक्ति', कर्मयोगी की तरह हो परन्तु वेदादि प्रतिपादित कर्म न हो। इसमें ईश्वर प्राप्ति तो होगी परन्तु कर्म न करने से फल भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। कर्मयोगी की भाँति कर्म संन्यासी भी वन्दनीय है क्योंकि—

सन्यासः कर्मयोगश्च निः श्रेयसकरावुभौ।

परन्तु संन्यास से कर्मयोग साधन में सुगम होने से श्रेष्ठ है क्योंकि संन्यासी का अनुसरण न कर पाने से कर्म एवं ईश्वर भक्ति दोनों से वंचित रह जायेगा और विकर्मी बनने की संभावनायें बन जायेंगी। कर्मयोग का अनुसरण करने वाले के हाथ ईश्वर भक्ति न लगे परन्तु कर्म का फल तो मिलेगा ही। इसलिये कर्मयोग कर्म संन्यास से श्रेष्ठ है।

और अर्जुन के लिए यह उपदेश **''तस्माद्योगी भवार्जुन''** अति उत्तम है। अब प्रश्न यह उठता है कि कर्म अकर्म ये सब कैसे एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं ?

जी हाँ, बड़ी आसानी से केवल भावना का खेल है। कर्म अपने स्थान पर है। भावना विकृत होने से विकर्म बन जाता है और कर्म, निष्काम होने से अकर्म बन जाता है। कर्म एवं भक्ति का आपस में क्या

सम्बन्ध होना चाहिए। रामायण भी इसका निराकरण इस प्रकार करती है–

सो सब धर्म–कर्म जरि जाऊँ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ॥

अर्थात् वह कर्म–धर्म निन्दनीय है जो ईश्वर भक्ति रहित है किन्तु जो ईश्वर भक्ति युक्त है वह तो– **त्रेता विविध यज्ञ नर कर ही। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरही॥** के अनुसार मुक्तिदायक ही है। रामायण पुनः कहती है कि–

जप तप नियम योग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना शुभ कर्मा॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहें श्रुति सज्जन॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर एक फल सुन्दर॥

अर्थात् जप तप नियम योग वर्णाश्रम, धर्म, ज्ञान दया दम तीर्थ स्नानादि जितने भी श्रौत–स्मार्त कर्म धर्म हैं सबका एक ही परिणाम होना चाहिए और वह यह कि ईश्वर चरणों में अनुराग हो यदि नहीं है तो भक्ति हीन ब्रह्मा भी निन्दनीय हैं साधारण की तो बात ही क्या है।

भक्ति हीन बिरंचि किन होई–

एक शिक्षक जिसका कर्तव्य है कि पूरी निष्ठा के साथ विद्यार्थी को शिक्षा देना। यदि वह अच्छी–मेहनत के साथ शिक्षण का कार्य करता है तो वह अपना कर्म कर रहा है।

नकल करा के या पर्चे आउट करा के या कुछ घूस ले के विद्यार्थियों को उत्तीर्ण कराता है तो वह विकर्म (पाप कर्म) बन जाता है। यदि वह अपने को निमित्त मान कर ईश्वर का ही दिया हुआ कार्य समझ कर कार्य करे तो यह कर्म में अकर्म है। यदि अपना समय नष्ट करता है तो यह तामस कर्म है क्योंकि आलस तामसी वृत्ति है।

उसी प्रकार एक दुकानदार मेहनत से सब सामान ग्राहकों को दिखा–दिखा कर बेचता है तो वह उसका कर्म है और बाबू जी आपने लेना है या केवल सामान देखना है कहते हुए सामान नहीं दिखाता या अप्रिय वाणी जो ग्राहक को अच्छी न लगे बोलता है तो यह विकर्म हो जायेगा। परन्तु जब वह ग्राहक को अपनी आय का माध्यम समझ कर और ईश्वर द्वारा भेजा हुआ बन्दा मानकर बड़े प्रेम से उसका स्वागत करता है और ईश्वर का ही माल समझकर ईश्वर के बन्दे के सामने उसकी तृप्ति के लिए कई वस्तुएँ या थान के थान कपड़े दिखाने में तनिक भी संकोच नहीं करता तो वह निःसन्देह कर्म में अकर्म है वह न तो साधारण दुकानदार है न ऊपर उल्लिखित साधारण शिक्षक है।

इसी प्रकार दुर्वासा ऋषि सब कुछ खाद्य पदार्थ गोपियों तथा बाल गोपालों द्वारा भेंट स्वरूप, खा जाने पर भी खाने का स्वाद का भाव न होने के कारण निराहारी ही बने रहे तथा श्री कृष्ण आजन्म ब्रह्मचारी ही रहे क्योंकि वे निर्लेप तथा निर्द्वन्द थे उनके कर्म दिव्य थे।

***

चरैवेति! चरैवेति!!

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति॥

रोहित ! हमने विद्वानों से सुना है कि श्रम से थककर चूर हुए बिना किसी को धन–सम्पदा प्राप्त नहीं होती। बैठे–ठाले पुरुष को पाप धर दबाता है। इन्द्र उसी का मित्र है, जो बराबर चलता रहता है–थककर, निराश होकर बैठ नहीं जाता। इसलिए चलते रहो।

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हतास्चरैवेति॥

जो व्यक्ति चलता रहता है, उसकी पिंडलियाँ फूल देती हैं। उसकी आत्मा वृद्धिगत होकर आरोग्यादि फल की भागी होती है तथा धर्मार्थ प्रभासादि तीर्थों में सतत् चलने वाले के अपराध और पाप थककर सो जाते हैं। अतः चलते रहो।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥

बैठने वाले की किस्मत बैठ जाती है, उठने वाले की उठती है, सोने वाले की सो जाती है और चलने वाले का भाग्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है। अतः चलते रहो।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥

सोने वाला पुरुष मानो कलियुग में रहता है, अंगड़ाई लेने वाला व्यक्ति द्वापर में पहुँच जाता है और उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति त्रेता में आ जाता है तथा आशा और उत्साह से भरपूर होकर अपने निश्चित मार्ग पर चलने वाले के सामने सतयुग उपस्थित हो जाता है। अतः चलते रहो।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥

उठकर कमर कसकर चल पड़ने वाले पुरुष को ही मधु मिलता है। निरन्तर चलता हुआ ही स्वादिष्ट फलों का आनन्द प्राप्त करता है, सूर्य देव को देखो जो सतत् चलते रहते हैं, क्षण भर भी आलस्य नहीं करते।

* * *

SIDDHAYOGA Regd. No. L. AG. 008

अगस्त, 1999

प्रेषण कार्यालय :–

सिद्धयोग

योग-सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक
श्री सिद्धगुफा योग-प्रशिक्षण केन्द्र
सवाई (एत्मादपुर) आगरा

PRINTED MATTER
Book Post

श्री --

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्त कामस्य कृतात्मनस्त्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।।

मुण्डकोपनिषद् ।३।२।२।

अर्थात् : जो भोगों को आदर देने वाला मानव उनकी कामना करता है, वह उन कामनाओं के कारण उन-उन स्थानों में उत्पन्न होता है जहाँ वे उपलब्ध हो सकें। परन्तु जो पूर्णकाम हो चुका है, उस विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुष की सम्पूर्ण कामनायें यहीं सर्वथा विलीन हो जाती हैं।

प्रकाशक एवं मुद्रक—विनय गजानन शर्मा द्वारा कर्मयोग प्रिन्टिंग प्रेस, बराई कलाँ, शाहगंज, आगरा के लिए राष्ट्रीय ब्लाक एवं प्रिन्टिंग वर्क्स, जौहरी बाजार, आगरा से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र सवाई, आगरा से प्रकाशित। फोन : 732326